"गांधी माला"—नं० २

मेरा विद्यार्थी जीवन

मो० क० गांधी

सम्पादक—प्रकाशक
आनन्द हिंगोरानी

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ

भूमिका

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'—यह एक आम कहावत है और इसमें कितनी सचाई है। जिन गांधीजी को हम श्रद्धा और प्रेमवश 'राष्ट्रपिता' पुकारते हैं और संसार के मुट्ठी भर सचमुच के महान् पुरुषों में एक मानते हैं, उनकी महानता की नींव बचपन में स्कूली पढ़ाई के दिनों में ही पड़ गयी थी। गांधीजी के जीवन की विशषता यह थी कि वे सत्य के प्रति गहरी आस्था रखते थे और सुख हो या दुःख, उसका निर्भीक हो कर निर्वाह करते थे, और अपनी इस विशेषता का इन पृष्ठों में उन्होंने बहुत ही स्वाभाविक और फिर भी कलात्मक तरीक़े से वर्णन किया है।

श्रवण और हरिश्चन्द्र की कहानियों का उनके नाज़ुक बाल-मन पर बहुत ही गहरा असर पड़ा था। श्रवणकुमार की माता-पिता की भक्ति से उनके हृदय में भी उसी उदाहरण पर चलने की प्रेरणा मिली और हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा ने तो उनके हृदय पर ऐसा जादू फेर दिया कि वे रात-दिन अपने मन में सोचा करते: "सभी लोग हरिश्चन्द्र की ही तरह सत्यवादी क्यों न हों?" और उन्होंने कहा भी है: "इस (कथा) से मुझे इस आदर्श की प्रेरणा मिली कि सत्य का पालन करूं और हरिश्चन्द्र की तरह कठिनाइयों को सर-माथे लूं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वे अपने छात्र-जीवन से ही अपने इन दो प्रिय महापुरुषों से मिली प्रेरणा और आदर्श के अनुसार अपने जीवन को ढालने का यत्न करने लगे थे। यह बात नहीं कि उनसे कभी चूक नहीं हुई। मनुष्य तो वे

थे ही और सारी मानव सुलभ दुर्बलतायें भी उनमें थीं। और अपने वृत्तांत में उन्होंने छिपाने या उनपर क़लई करने की भी कभी कोशिश नहीं की है। एक सच्ची आत्मा की भांति उन्होंने उन सबको ईमानदारी से स्वीकार किया है और हमें बतलाया है कि उनपर विजय पा सकने के पहले उन्हें लगातार कितना जम कर संघर्ष करना पड़ा था।

उनके छात्र-जीवन की कहानी बहुत ही रोचक, शिक्षा-प्रद और प्रेरणाप्रद है और मुझे विश्वास है कि जो भी विद्यार्थी इसे पढ़ेगा, वह लाभ उठायेगा। इससे उसके जीवन में नया मोड़ भी आ सकता है। फिर भी अगर इस पुस्तक के साथ ही साथ 'विद्यार्थियों को संदेश' नामक पुस्तक को भी पढ़ा जाय तो ज्यादा लाभ होगा। ये दोनों किताबें मिल कर हमारे विद्यार्थियों के लिये एक बहुत बड़ा ख़ज़ाना साबित होंगी। और अध्यापकों को चाहिये कि वे अपने छात्र-छात्राओं को इन पुस्तकों को पढ़ने की सलाह दें। ये आज के नौजवानों के लिये कितनी उपयोगी हैं, यह जितना भी बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाय, कम है।

मूल अंग्रेज़ी पुस्तक का यह हिंदी अनुवाद प्रथम बार प्रकाशित किया जाता है। इसके लिये मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती गंगा हिंगोरानी का अति आभारी हूं, जो उन्होंने कष्ट उठा कर हिंदी अनुवाद तथा प्रकाशन में सहायता की है। उनके सहयोग के बिना यह हिंदी पुस्तक इतनी शीघ्र प्रकाशित नहीं हो सकती थी।

७ एडमान्स्टन रोड,
इलाहाबाद
३ अप्रैल, १९६२

आनन्द हिंगोरानी

: १ :

मेरा बचपन

२ अक्तूबर, १८६९ को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

बचपन मेरा पोरबन्दर में ही बीता। याद पड़ता है कि मुझे किसी पाठशाला में भरती किया गया था। मुश्किल से थोड़े पहाड़े सीखा था। मुझे सिर्फ़ इतना याद है कि मैं उस समय दूसरे लड़कों के साथ अपने शिक्षक को गाली देना सीखा था। और कुछ याद नहीं पड़ता। इस पर से मैं अंदाज़ लगाता हूं कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी, और स्मरण-शक्ति उस चरण के कच्चे पापड़-जैसी होगी, जिसे हम बालक गाया करते थे। वे पंक्तियां मुझे यहां देनी ही चाहिये :

"एकडे एक, पापड शेक;
पापड कच्चो,—मारो—"

पहली ख़ाली जगह में मास्टर का नाम होता था। उसे मैं अमर करना नहीं चाहता। दूसरी ख़ाली जगह में छोड़ी हुई गाली रहती थी, जिसे भरने की आवश्यकता नहीं।

पोरबन्दर से पिताजी राजस्थानिक कोर्ट के सदस्य बनकर राजकोट गये। उस समय मेरी उमर लगभग सात साल की होगी। मुझे राजकोट की

ग्रामशाला में भरती किया गया। इस शाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। शिक्षकों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह यहां की पढ़ाई के बारे में भी जानने लायक़ कोई ख़ास बात नहीं है। मैं मुश्किल से साधारण श्रेणी का विद्यार्थी रहा होऊंगा। ग्रामशाला से उपनगर की शाला में और वहांसे हाई-स्कूल में। यहां तक पहुंचने में मेरा बारहवां वर्ष बीत गया। मुझे याद नहीं पड़ता कि इस बीच मैंने किसी भी समय शिक्षकों को धोखा दिया हो। न तब तक किसी को मित्र बनाने का स्मरण है। मैं बहुत ही शरमीला लड़का था। पाठशाला में अपने काम से ही काम रखता था। घंटी बजने के समय पहुंचता और पाठशाला के बन्द होते ही घर भागता। 'भागना' शब्द मैं जान-बूझकर लिख रहा हूं, क्योंकि किसी से बातें करना मुझे अच्छा न लगता था। साथ ही, यह डर भी रहता था कि कोई मेरा मज़ाक़ उड़ायेगा तो?

परीक्षा के समय की एक घटना

हाई स्कूल के पहले ही वर्ष की, परीक्षा के समय की, एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर जाइल्स विद्यालय का निरीक्षण करने आये थे। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी के पांच शब्द लिखाये। उन में एक शब्द 'केटल' (kettle) था। मैंने उसके हिज्जे ग़लत लिखे थे। शिक्षक ने अपने बूट की नोक मारकर मुझे सावधान कियां। लेकिन मैं क्यों सावधान होने लगा? मुझे यह ख्याल ही नहीं हो सका कि शिक्षक मुझे पासवाले

लड़के की पट्टी देखकर हिज्जे सुधार लेने को कहते हैं। मैंने यह माना था कि शिक्षक तो यह देख रहे हैं कि हम एक-दूसरे की पट्टी में देख कर चोरी न करें। सब लड़कों के पांचों शब्द सही निकले, और अकेला मैं बेवक़ूफ़ ठहरा! शिक्षक ने मुझे मेरी बेवक़ूफ़ी बाद में समझायी; लेकिन मेरे मन पर उनके समझाने का कोई असर न हुआ। मैं दूसरे लड़कों की पट्टी में देखकर चोरी करना कभी सीख न सका।

इतने पर भी शिक्षक के प्रति मेरा विनय कभी कम न हुआ। बड़ों के दोष न देखने का गुण मुझमें स्वभाव से ही था। बाद में इन शिक्षक के दूसरे दोष भी मुझे मालूम हुए थे। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर तो बना ही रहा। मैं यह जानता था कि बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिये। वे जो कहें सो करना; करें, उसके काज़ी न बनना।

दो और घटनाएं

इसी समय के दो और प्रसंग मुझे हमेशा याद रहे हैं। साधारणतः पाठशाला की पुस्तकों को छोड़कर और कुछ पढ़ने का मुझे शौक़ नहीं था। सबक़ याद करना चाहिये, उलाहना सहा नहीं जाता, शिक्षक को धोखा देना ठीक नहीं, इसलिये पाठ याद करता था। लेकिन मन अलसा जाता, इस से अकसर सबक़ कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी कोई चीज़ पढ़ने की इच्छा क्यों कर होती? किन्तु पिताजी की ख़रीदी हुई एक पुस्तक पर मेरी दृष्टि

पड़ी। नाम था *'श्रवण-पितृभक्ति नाटक'*। मेरी इच्छा उसे पढ़ने की हुई, और मैं उसे बड़े चाव के साथ पढ़ गया। उन्हीं दिनों शीशे में चित्र दिखाने-वाले भी घर-घर आते थे। उन के पास मैंने श्रवण का वह दृश्य भी देखा, जिसमें वह अपने माता-पिता को कांवर में बैठाकर यात्रा पर ले जाता है। दोनों चीज़ों का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। मन में इच्छा होती कि मुझे भी श्रवण के समान बनना चाहिये। श्रवण की मृत्यु पर उस के माता-पिता का विलाप मुझे आज भी याद है। उस ललित छन्द को मैंने बाजे पर बजाना भी सीख लिया था। मुझे बाजा सीखने का शौक़ था और पिताजी ने एक बाजा दिला भी दिया था।

हरिश्चन्द्र का नाटक

इन्हीं दिनों कोई नाटक-कंपनी आयी थी, और उसका नाटक देखने की आज्ञा मुझे मिली थी। हरिश्चन्द्र का आख्यान था। उस नाटक को देखते हुए मैं थकता ही न था। उसे बार-बार देखने की इच्छा होती थी। लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता? पर अपने मन में मैंने उस नाटक को सैकड़ों बार खेला होगा। मुझे हरिश्चन्द्र के सपने आते। 'हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते?' —यह धुन रहती। हरिश्चन्द्र पर जैसी विपत्तियां पड़ी वैसी विपत्तियों को भोगना और सत्य का पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने मान लिया था कि नाटक में जैसी लिखी हैं, वैसी ही विपत्तियां हरिश्चन्द्र पर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्र

के दुःख देखकर, उनका स्मरण करके मैं खूब रोया हूं। आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। फिर भी मेरे विचार में हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूं कि आज भी उन नाटकों को पढ़ूं, तो मेरी आंखों से आंसू बह निकलेंगे।

: २ :

बाल-विवाह

यह लिखते हुए मन दुःखी होता है कि तेरह साल की उमर में मेरा विवाह हुआ था। आज मेरी आंखों के सामने बारह-तेरह वर्ष के बालक मौजूद हैं। उन्हें देखता हूं और अपने विवाह का स्मरण करता हूं, तो मुझे अपने ऊपर दया आती है और इन बालकों को मेरी स्थिति में से बचने के लिये बधाई देने की इच्छा होती है। तेरहवें वर्ष में हुए अपने विवाह के समर्थन में मुझे एक भी नैतिक दलील सूझ नहीं सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाई की बात लिख रहा हूं। काठियावाड़ में विवाह का अर्थ लग्न है, सगाई नहीं। दो बालकों को ब्याहने के लिये मां-बापों के बीच होनेवाला करार सगाई है। सगाई टूट सकती है। सगाई के रहते वर मर जाये, तो कन्या विधवा नहीं होती। सगाई में वर-कन्या बीच के कोई संबंध नहीं रहता। दोनों को पता भी

नहीं होता। मेरी एक-एक करके तीन बार सगाई हुई थी। ये तीन सगाइयां कब हुईं, इसका मुझे कुछ पता नहीं। मुझे बताया गया था कि दो कन्यायें एक के बाद एक मर गयीं। इसलिये मैं जानता हूं कि मेरी तीन सगाइयां हुई थीं। कुछ ऐसा याद पड़ता है कि तीसरी सगाई कोई सात साल की उमर में हुई होगी। लेकिन मैं नहीं जानता कि सगाई के समय मुझसे कुछ कहा गया था। विवाह में वर-कन्या की आवश्यकता पड़ती है, उसकी एक विधि होती है; और मैं जो लिख रहा हूं, सो विवाह के विषय में ही। विवाह का मुझे पूरा-पूरा स्मरण है।

पाठक जान चुके हैं कि हम तीन भाई थे। उनमें सब से बड़े का ब्याह हो चुका था। मझले मुझ से दो या तीन साल बड़े थे। घर के बड़ों ने एक-साथ तीन विवाह करने का निश्चय किया। मझले भाई का, मेरे काकाजी के छोटे लड़के का, जिनकी उमर मुझ से एकाध साल शायद अधिक रही होगी, और मेरा। इसमें हमारे कल्याण की बात नहीं थी। हमारी इच्छा की तो थी ही नहीं। बात सिर्फ़ बड़ों की सुविधा और ख़र्च की थी।

हिन्दू-संसार में विवाह

हिन्दू-संसार में विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज़ नहीं। वर-कन्या के माता-पिता विवाह के पीछे बर-बाद होते हैं, धन लुटाते हैं और समय लुटाते हैं। महीनों पहले से तैयारियां होती हैं। कपड़े बनते हैं, गहने बनते हैं, जातिभोज के ख़र्च के हिसाब बनते

हैं, पकवानों के प्रकारों की होड़ बदी जाती है। औरतें गला हो चाहे न हो तो भी, गाने गा-गाकर अपनी आवाज़ बैठा लेती हैं, बीमार भी पड़ती हैं, पड़ोसियों की शांति में ख़लल पहुंचाती हैं। बेचारे पड़ोसी भी अपने यहां प्रसंग आने पर यही सब करते होते हैं, इसलिये शोरग़ुल, जूठन, दूसरीं गन्दगियां, सबकुछ उदासीन भाव से सह लेते हैं।

ऐसा झमेला तीन बार करने के बदले एक ही बार कर लिया जाय, तो कितना अच्छा हो! ख़र्च कम होने पर भी ब्याह ठाठ से हो सकता है, क्योंकि तीन ब्याह एकसाथ करने पर पैसा खुले हाथों ख़र्चा जा सकता है। पिताजी और काकाजी बूढ़े थे। हम उनके आख़िरी लड़के ठहरे। इसलिये उनके मन में हमारे विवाह रचाने का आनन्द लूटने की वृत्ति भी रही होगी। इन और ऐसे विचारों से ये तीनों विवाह एक साथ करने का निश्चय किया गया, और इसके लिये तैयारियां और सामग्री जुटाने का काम तो, जैसा कि मैं कह चुका हूं, महीनों पहले से शुरू हो चुका था।

मेरे लिये विवाह का अर्थ क्या था

हम भाइयों को तो सिर्फ़ तैयारियों से ही पता चला कि ब्याह होनेवाले हैं। उस समय मेरे मन में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, बाजे बजने, वर-यात्रा के समय घोड़े पर चढ़ने, बढ़िया भोजन मिलने, एक नई बालिका के साथ विनोद करने आदि की

अभिलाषा के सिवा दूसरी कोई ख़ास बात रही हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है ।

हम दो भाइयों को राजकोट से पोरबन्दर ले जाया गया । वहां हल्दी चढ़ाने आदि की जो विधि हुई, मनोरंजक होते हुए भी उसकी चर्चा छोड़ देने लायक़ है ।

पिताजी के साथ दुर्घटना

पिताजी दीवान थे, फिर भी थे तो नौकर ही; तिस पर राज-प्रिय थे, इसलिये अधिक पराधीन रहे । ठाकुर साहब ने आख़िरी घड़ी तक उन्हें छोड़ा नहीं । अन्त में जब छोड़ा, तो ब्याह के दो दिन पहले ही रवाना किया । उन्हें पहुंचाने के लिए ख़ास डाक बैठायी गयी । पर---! पर विधाता ने कुछ और ही सोचा था । राजकोट से पोरबन्दर साठ कोस है । बैलगाड़ी से पांच दिन का रास्ता था । पिताजी तीन दिन में पहुंचे । आख़िरी मंज़िल में तांगा उलट गया । पिताजी को कड़ी चोट आयी । हाथ पर पट्टी, पीठ पर पट्टी । विवाह-विषयक उनका और हमारा आधा आनन्द चला गया । फिर भी ब्याह तो हुए ही । लिखे मुहूर्त कहीं टल सकते हैं ? मैं तो विवाह के बाल-उल्लास में पिताजी का दुःख भूल गया !

पिताजी ने शरीर से पीड़ा भोगते हुए भी बाहर से प्रसन्न दीखने का प्रयत्न किया, और विवाह में पूरी तरह योग दिया । पिताजी किस-किस प्रसंग पर कहां-कहां बैठे थे, इसकी याद मुझे आज भी जैसी की वैसी बनी है । बाल-विवाह की चर्चा करते हुए पिताजी के कार्य की जो टीका मैंने आज की है,

वह मेरे मन ने उस समय थोड़े ही की थी ? तब तो सबकुछ योग्य और मनपसन्द ही लगा था। ब्याहने का शौक़ था और पिताजी जो कर रहे हैं, ठीक ही कर रहे हैं, ऐसा लगता था। इसलिये उस समय के स्मरण ताज़े हैं।

: ३ :

हाई स्कूल में

मैं ऊपर लिख चुका हूं कि ब्याह के समय मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूल में पढ़ते थे। जेठे भाई ऊपर के दर्जे में थे, और जिन भाई के ब्याह के साथ मेरा ब्याह हुआ था, वे मुझ से एक दर्जा आगे थे। ब्याह का परिणाम यह हुआ कि हम दो भाइयों का एक वर्ष बेकार गया। मेरे भाई के लिये तो परिणाम इस से भी बुरा रहा। ब्याह के बाद वे स्कूल में पढ़ ही न सके। कितने नौजवानों को ऐसे अनिष्ट परिणाम का सामना करना पड़ता होगा, भगवान् ही जाने! विद्याभ्यास और विवाह दोनों एकसाथ तो हिन्दू-समाज में ही चल सकते हैं।

मेरी पढ़ाई चलती रही। हाई स्कूल में मेरी गिनती मन्दबुद्धि विद्यार्थियों में नहीं थी। शिक्षकों का प्रेम मैं हमेशा ही पा सका था। हर साल माता-पिता के नाम स्कूल से विद्यार्थी की पढ़ाई और उसके आचरण के संबंध में प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। उनमें

मेरे आचरण या अभ्यास के ख़राब होने की टीका कभी नहीं हुई। दूसरी कक्षा के बाद मुझे इनाम भी मिले, और पांचवीं तथा छठी कक्षा में क्रमशः प्रति-मास चार और दस रुपयों की छात्रवृत्ति भी मिली थी। इसमें मेरी होशियारी की अपेक्षा भाग्य का अंश अधिक था। ये छात्रवृत्तियां सब विद्यार्थियों के लिये नहीं थीं, बल्कि सोरठ-वासियों में से सर्वप्रथम आने-वालों के लिये थीं। चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में उस समय सोरठ प्रदेश के विद्यार्थी कितने हो सकते थे ?

कसरत के लिये अरुचि

मेरा अपना ख़्याल है कि मुझे अपनी होशियारी का कोई गर्व नहीं था पुरस्कार या छात्रवृत्ति मिलने पर मुझे आश्चर्य होता था। पर अपने आचरण के विषय में मैं बहुत सजग था। आचरण में दोष आने पर मुझे रुलाई आ ही जाती थी। मेरे हाथों कोई भी ऐसा काम बने, जिससे शिक्षकों को मुझे डांटना पड़े अथवा शिक्षकों का वैसा ख़्याल बने, तो वह मेरे लिये असह्य हो जाता था। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मार का दुःख नहीं था, पर मैं दण्ड का पात्र माना गया, इसका मुझे बड़ा दुःख रहा। मैं ख़ूब रोया। यह प्रसंग पहली या दूसरी कक्षा का है। दूसरा एक प्रसंग सातवीं कक्षा का है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वे विद्यार्थी-प्रिय थे, क्योंकि वे नियमों का पालन करवाते, व्यवस्थित रीति से काम करते और लेते और अच्छी तरह

पढ़ाते थे। उन्होंने उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिये कसरत और क्रिकेट अनिवार्य कर दिये थे। मुझे इनसे अरुचि थी। इनके अनिवार्य बनने से पहले मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फ़ुटबाल में गया ही न था। न जाने में मेरा शरमीला स्वभाव ही एक-मात्र कारण था। अब मैं देखता हूं कि वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरा यह ग़लत ख़्याल बना हुआ था कि शिक्षा के साथ कसरत का कोई सम्बन्ध नहीं है। बाद में समझा कि विद्याभ्यास में व्यायाम का, अर्थात् शारीरिक शिक्षा का, मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिये।

पैदल घूमने के लाभ

फिर भी मुझे यह कहना चाहिये कि कसरत में न जाने से मुझे नुक़सान नहीं हुआ। उसका कारण यह रहा कि मैंने पुस्तकों में खुली हवा में घूमने जाने की सलाह पढ़ी थी, और वह मुझे रुची थी। इसके कारण हाई स्कूल की उच्च कक्षा से ही मुझे हवा-ख़ोरी की आदत पड़ गयी थी। वह अन्त तक बनी रही। टहलना भी व्यायाम तो है ही, इससे मेरा शरीर अपेक्षाकृत सुगठित बना।

अरुचि का दूसरा कारण था, पिताजी की सेवा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल की छुट्टी होते ही मैं सीधा घर पहुंचता और सेवा में लग जाता। जब कसरत अनिवार्य हुई, तो इस सेवा में बाधा पड़ी। मैंने विनती की कि पिताजी की सेवा के लिये मुझे कसरत से छुट्टी दी जाय। पर गीमी साहब छुट्टी क्यों देने लगे? एक शनिवार के दिन सुबह का

स्कूल था। शाम को चार बजे कसरत के लिये जाना था। मेरे पास घड़ी नहीं थी। आसमान बादलों से घिरा था, इसलिये समय का कोई अन्दाज़ नहीं रहा। मैं बादलों से धोखा खा गया। जब कसरत के लिये पहुंचा, तो सब जा चुके थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाज़िरी देखी, तो मैं ग़ैर-हाज़िर पाया गया। मुझसे कारण पूछा गया। मैंने सही-सही कारण बता दिया। उन्होंने उसे सच नहीं माना, और मुझ पर एक या दो आने (ठीक रक़म का स्मरण नहीं है) का जुर्माना किया। मैं झूठा ठहरा! मुझे बहुत दु:ख हुआ। कैसे सिद्ध करूं कि मैं झूठा नहीं हूं? कोई उपाय न रहा। मन मसोस कर रह गया। रोया। समझा कि सच बोलनेवाले और सच्चा काम करनेवाले को ग़ाफ़िल भी नहीं रहना चाहिये। अपनी पढ़ाई के समय में इस तरह की मेरी यह पहली और आख़िरी ग़फ़लत थी। मुझे धुंधली-सी याद है कि आख़िर में वह जुर्माना माफ़ करा सका था।

मैंने कसरत से तो मुक्ति प्राप्त कर ही ली। पिताजी ने हेडमास्टर को पत्र लिखा कि स्कूल के समय के बाद वे मेरी उपस्थिति का उपयोग अपनी सेवा के लिये करना चाहते हैं। इस कारण मुझे मुक्ति मिल गयी।

अच्छे अक्षर विद्या का आवश्यक अंग

व्यायाम के बदले मैंने टहलने का सिलसिला रखा, इसलिये शरीर को व्यायाम न देने की ग़लती के लिये तो शायद मुझे सज़ा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक ग़लती की सज़ा मैं आज तक भोग रहा

हूं। मैं नहीं जानता कि पढ़ाई में सुन्दर लेखन आवश्यक नहीं है, यह ग़लत ख़्याल मुझे कैसे हो गया था। पर ठेठ विलायत जाने तक यह बना रहा। बाद में, और ख़ास करके दक्षिण अफ़्रीका में, जब मैंने वकीलों के तथा दक्षिण अफ़्रीका में जन्मे और पढ़े-लिखे नवयुवकों के मोती के दानों-जैसे अक्षर देखे, तो मैं शरमाया और पछताया। मैंने अनुभव किया कि ख़राब अक्षर अधूरी शिक्षा की निशानी मानी जानी चाहिये। बाद में मैंने अक्षर सुधारने का प्रयत्न किया, पर पक्के घड़े पर कहीं गला जुड़ता है? जवानी में मैंने जिसकी उपेक्षा की, उसे मैं आज तक नहीं कर सका। हर एक नवयुवक और नवयुवती मेरे उदाहरण से सबक़ ले और समझे कि अच्छे अक्षर विद्या का आवश्यक अंग हैं। अच्छे अक्षर सीखने के लिये चित्रकला आवश्यक है। मेरी तो यह राय बनी है कि बालकों को चित्रकला पहले सिखानी चाहिये। जिस तरह पक्षियों, वस्तुओं आदि को देखकर बालक उन्हें याद रखता है और आसानी से उन्हें पहचानता है, उसी तरह अक्षर पहचानना सीखे, और जब चित्रकला सीखकर चित्र आदि बनाने लगे तभी अक्षर लिखना सीखे, तो उसके अक्षर छपे अक्षरों के समान सुन्दर होंगे।

भूमिति कैसे सरल विषय बना

इस समय के विद्याभ्यास के दूसरे दो संस्मरण उल्लेखनीय हैं। ब्याह के कारण जो एक साल नष्ट हुआ था, उसे बचा लेने की बात दूसरी कक्षा के शिक्षक ने मेरे सामने रखी थी। उन दिनों परिश्रमी

विद्यार्थी को इसके लिये अनुमति मिलती थी। इस कारण तीसरी कक्षा में मैं छः महीने रहा और गरमी की छुट्टियों से पहले होनेवाली परीक्षा के बाद मुझे चौथी कक्षा में बैठाया गया। इस कक्षा से थोड़ी पढ़ाई अंग्रेज़ी माध्यम से होने लगती थी। मेरी समझ में कुछ न आता था। भूमिति भी चौथी कक्षा से शुरू होती थी। मैं उसमें पिछड़ा हुआ था ही, तिस पर मैं उसे बिलकुल समझ नहीं पाता था। भूमिति-शिक्षक अच्छी तरह समझाकर पढ़ाते थे, पर मैं कुछ समझ ही न सकता था। मैं अकसर निराश हो जाता। कभी-कभी यह भी सोचता कि एक साल में दो कक्षायें करने का विचार छोड़कर मैं तीसरी कक्षा में लौट जाऊं। पर ऐसा करने में मेरी लाज जाती, और जिन शिक्षक ने मेरी लगन पर भरोसा करके मुझे चढ़ाने की सिफ़ारिश की थी उनकी भी लाज जाती। इस भय से नीचे जाने का विचार तो छोड़ ही दिया। जब प्रयत्न करते-करते मैं युक्लिड (Euclid) के तेरहवें प्रमेय तक पहुंचा, तो अचानक मुझे बोध हुआ कि भूमिति तो सरल से सरल विषय है। जिसमें केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है, उसमें कठिनाई क्या है? उसके बाद तो भूमिति मेरे लिये सदा ही एक सरल और सरस विषय बना रहा।

संस्कृत बनाम फ़ारसी

भूमिति की अपेक्षा संस्कृत ने मुझे अधिक परेशान किया। भूमिति में रटने की कोई बात थी ही नहीं, जब कि मेरी दृष्टि से संस्कृति में तो सब

रटना ही होता था। यह विषय भी चौथी कक्षा में शुरू हुआ था। छठी कक्षा में मैं हारा। संस्कृत-शिक्षक बहुत कड़े मिज़ाज के थे। विद्यार्थियों को अधिक सिखाने का लोभ रखते थे। संस्कृत वर्ग और फ़ारसी वर्ग के बीच एक प्रकार की होड़ रहती थी। फ़ारसी सिखानेवाले मौलवी नरम मिज़ाज के थे। विद्यार्थी आपस में बात करते कि फ़ारसी तो बहुत आसान है और फ़ारसी-शिक्षक बहुत भले हैं। विद्यार्थी जितना काम करते हैं, उतने से वे संतोष कर लेते हैं। मैं भी आसान होने की बात सुनकर ललचाया, और एक दिन फ़ारसी के वर्ग में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा: "यह तो समझ कि तू किनका लड़का है। क्या तू अपने धर्म की भाषा नहीं सीखेगा? तुझे जो कठिनाई हो, सो मुझे बता। मैं तो सब विद्यार्थियों को बढ़िया संस्कृत सिखाना चाहता हूं। आगे चलकर उसमें रस के घूंट पीने को मिलेंगे। तुझे यों हारना नहीं चाहिये। तू फिर से मेरे वर्ग में बैठ।" मैं शरमाया। शिक्षक के प्रेम की अवगणना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है। क्योंकि जितनी संस्कृत मैं उस समय सीखा उतनी भी न सीखा होता, तो आज संस्कृत शास्त्रों में मैं जितना रस ले सकता हूं, उतना न ले पाता। मुझे तो इस बात का पश्चात्ताप होता है कि मैं संस्कृत अधिक न सीख सका। क्योंकि बाद में मैं समझा कि किसी भी हिन्दू बालक को संस्कृत का अच्छा अभ्यास किये बिना रहना ही न चाहिये।

अंग्रेज़ी के माध्यम से सीखने का बोझ

अब तो मैं यह मानता हूं कि भारतवर्ष की उच्च शिक्षा के पाठ्य-क्रम में मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी का स्थान होना चाहिये। भाषाओं की इस संख्या से किसी को डरना नहीं चाहिये। भाषा पद्धतिपूर्वक सिखाई जाये और सब विषयों को अंग्रेज़ी के माध्यम से सीखने-सोचने का बोझ हम पर न हो, तो ऊपर की भाषायें सीखना सिर्फ़ बोझरूप न होगा, बल्कि उसमें बहुत ही आनन्द आयेगा। और, जो व्यक्ति एक भाषा को शास्त्रीय पद्धति से सीख लेता है, उसके लिये दूसरी का ज्ञान सुलभ हो जाता है। असल में तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत एक भाषा मानी जा सकती हैं। इसी तरह फ़ारसी और अरबी एक मानी जायें। यद्यपि फ़ारसी संस्कृत से मिलती-जुलती है, और अरबी का हिब्रू से मेल है, फिर भी दोनों का विकास इस्लाम के प्रकट होने के बाद हुआ है, इसलिये दोनों के बीच निकट का सम्बन्ध है। उर्दू को मैंने अलग भाषा नहीं माना है, क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिन्दी में हो जाता है। उसके बाद तो फ़ारसी और अरबी ही हैं। ऊंचे दर्जे की उर्दू जाननेवाले के लिये अरबी और फ़ारसी का ज्ञान ज़रूरी है, जैसे उच्च प्रकार की गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी जाननेवाले के लिये संस्कृत जानना आवश्यक है।

: ४ :

दुःखद प्रसंग—१

मैं कह चुका हूं कि हाई स्कूल में मेरे थोड़े ही विश्वासपात्र मित्र थे। कहा जा सकता है कि ऐसी मित्रता रखनेवाले तो मित्र अलग-अलग समय में रहे। एक का सम्बन्ध लम्बे समय तक नहीं टिका, यद्यपि मैंने उस मित्र को छोड़ा नहीं था। मैंने दूसरे की सोहबत की, इसलिये पहले ने मुझे छोड़ दिया। दूसरी सोहबत मेरे जीवन का एक दुःखद प्रकरण है। यह सोहबत बहुत वर्षों तक रही। इस सोहबत को निभाने में मेरी दृष्टि सुधारक की थी। इन भाई की पहली मित्रता मेरे मझले भाई के साथ थी। वे मेरे भाई की कक्षा में थे। मैं देख सका था कि उनमें कई दोष हैं। पर मैंने उन्हें वफ़ादार मान लिया था। मेरी माताजी, मेरे जेठे भाई और मेरी धर्म-पत्नी तीनों को यह सोहबत कड़वी लगती थी। पत्नी की चेतावनी को तो मैं अभिमानी पति क्यों मानने लगा? माता की आज्ञा का उल्लंघन मैं करता ही न था। बड़े भाई की बात मैं हमेशा सुनता था। पर उन्हें मैंने यह कहकर शान्त किया: "उसके जो दोष आप बताते हैं, उन्हें मैं जानता हूं। उसके गुण तो आप जानते ही नहीं। वह मुझे ग़लत रास्ते नहीं ले जायेगा, क्योंकि उसके साथ मेरा सम्बन्ध उसे सुधारने के लिये ही है। मुझे यह विश्वास है कि अगर वह सुधर जाये, तो बहुत अच्छा आदमी निकलेगा। मैं चाहता हूं कि आप

मेरे विषय में निर्भय रहें।" मैं नहीं मानता कि मेरी इस बात से उन्हें संतोष हुआ, पर उन्होंने मुझ पर विश्वास किया, और मुझे मेरे रास्ते जाने दिया।

सच्ची मित्रता

बाद में मैं देख सका कि मेरा अनुमान ठीक नहीं था। सुधार करने के लिये भी मनुष्य को गहरे पानी में नहीं पैठना चाहिये। जिसे सुधारना है, उसके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रता में अद्वैत भाव होता है। संसार में ऐसी मित्रता क्वचित् ही पायी जाती है। मित्रता समान गुणवालों के बीच शोभती और निभती है। मित्र एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना रह ही नहीं सकते। अतएव, मित्रता में सुधार के लिये बहुत कम अवकाश रहता है। मेरी राय है कि घनिष्ठ मित्रता अनिष्ट है, क्योंकि मनुष्य दोषों को जल्दी ग्रहण करता है। गुण ग्रहण करने के लिये प्रयास की आवश्यकता है। जो आत्मा की, ईश्वर की मित्रता चाहता है, उसे एकाकी रहना चाहिये, अथवा समूचे संसार के साथ मित्रता रखनी चाहिये। ऊपर का विचार योग्य हो अथवा अयोग्य, घनिष्ठ मित्रता बढ़ाने का मेरा प्रयोग निष्फल रहा।

'सुधार-पंथ'

जिन दिनों मैं इन मित्र के संपर्क में आया, उन दिनों राजकोट में 'सुधार-पंथ' का ज़ोर था। मुझे इन मित्र ने बताया कि कई हिन्दू शिक्षक छिपे-छिपे मांसाहार और मद्यपान करते हैं। उन्होंने

राजकोट के दूसरे प्रसिद्ध गृहस्थों के नाम भी दिये। मेरे सामने हाई स्कूल के कुछ विद्यार्थियों के नाम भी आये। मुझे तो आश्चर्य भी हुआ, और दुःख भी। कारण पूछने पर यह दलील दी गयी: "हम मांसाहार नहीं करते, इसलिये प्रजा के रूप में हम निर्वीर्य हैं। अंग्रेज़ हम पर इसलिये राज्य करते हैं कि वे मांसाहारी हैं। मैं कितना मज़बूत हूं, और कितना दौड़ सकता हूं सो तो तुम जानते ही हो। इसका कारण भी मांसाहार ही है। मांसाहारी को फोड़े नहीं होते, होने पर झट अच्छे हो जाते हैं। हमारे शिक्षक मांस खाते हैं, इतने प्रसिद्ध व्यक्ति खाते हैं, सो क्या बिना समझे खाते हैं? तुम्हें भी खाना चाहिये। खाकर देखो तो मालूम होगा कि तुम में कितनी ताक़त आ जाती है।"

मांसाहार के लिये दलीलें

ये सब दलीलें किसी एक दिन नहीं दी गयी थीं। अनेक उदाहरणों से सजाकर इस तरह की दलीलें कई बार दी गयीं। मेरे मझले भाई तो भ्रष्ट हो चुके थे। उन्होंने इन दलीलों की पुष्टि की। अपने भाई की और इन मित्र की तुलना में मैं तो बहुत दुबला था। उनके शरीर अधिक गठीले थे। उनका शरीर-बल मुझसे कहीं ज़्यादा था। वे हिम्मतवर थे। इन मित्र के पराक्रम मुझे मुग्ध कर देते थे। वे मनचाहा दौड़ सकते थे। उनकी गति बहुत अच्छी थी। वे ख़ूब लम्बा और ऊंचा कूद सकते थे। मार सहन करने की शक्ति भी उनमें ख़ूब थी। अपनी इस शक्ति का

प्रदर्शन भी वे मेरे सामने समय-समय पर करते थे। जो शक्ति अपने में नहीं होती, उसे दूसरे में देखकर मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। वैसा मुझे भी हुआ। आश्चर्य में से मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़ने-कूदने की शक्ति नहीं के बराबर थी। मैं सोचा करता कि मैं भी इन मित्र की तरह बलवान बन जाऊं, तो कितना अच्छा हो!

भूतों का डर

इसके अलावा, मैं बहुत डरपोक था। चोर, भूत, सांप आदि के डर से घिरा रहता था। ये डर मुझे खूब हैरान भी करते थे। रात कहीं अकेले जाने की हिम्मत नहीं थी। अंधेरे में तो कहीं जाता ही न था। दीये के बिना सोना लगभग असंभव था। कहीं इधर से भूत न आ जाये, उधर से चोर न आ जाये और तीसरी जगह से सांप न निकल आये! इसलिए बत्ती की ज़रूरत तो रहती ही थी। पास में सोयी हुई और अब कुछ सयानी बनी हुई पत्नी से भी अपने इस डर की बात मैं कैसे करता? मैं यह समझ चुका था कि वह मुझसे ज़्यादा हिम्मतवाली है, और इसलिये मैं शरमाता था। सांप आदि से डरना तो वह जानती ही न थी। अंधेरे में वह अकेली चली जाती थी। मेरे ये मित्र मेरी इन कमज़ोरियों को जानते थे। मुझसे कहा करते कि वे तो ज़िन्दा सांपों को भी हाथ से पकड़ लेते हैं। चोर से कभी नहीं डरते। भूत को तो मानते ही नहीं। उन्होंने मुझे जंचाया कि यह सारा प्रताप मांसाहार का है।

इन्हीं दिनों नर्मद[1] का नीचे लिखा पद स्कूलों में गाया जाता था :

"अंग्रेज़ो राज्य करे, देशी रहे दबायी,
देशी रहे दबायी, जोने बेनां शरीर भाई
पेलो पांच हाथ पूरो, पूरो पांच सें ने[2]।"

इन सब बातों का मेरे मन पर पूरा-पूरा असर हुआ। मैं पिघला। मैं यह मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज़ है। उससे मैं बलवान और साहसी बनूंगा। समूचा देश मांसाहार करे, तो अंग्रेज़ों को हराया जा सकता है।

मांसाहार शुरू करने का निश्चय

मांसाहार शुरू करने का दिन निश्चित हुआ।

इस निश्चय—इस आरम्भ—का अर्थ सब पाठक समझ नहीं सकेंगे। गांधी-परिवार वैष्णव सम्प्रदाय का है। माता-पिता बहुत कट्टर वैष्णव माने जाते थे। हवेली में (वैष्णव-मन्दिर में) हमेशा जाते थे। कुछ मन्दिर तो परिवार के ही माने जाते थे। फिर गुजरात में जन सम्प्रदाय का बड़ा ज़ोर है। उसका प्रभाव हर जगह, हर काम में पाया जाता है। इसलिये मांसाहार का जैसा विरोध और तिरस्कार गुजरात में और श्रावकों तथा वैष्णवों में पाया जाता है, वैसा

---

[1]हिन्दुस्तानी तो दब कर रहते हैं, अंग्रेज़ राज्य करते हैं। दोनों के शरीर का मुक़ाबला करो। वह पांच हत्था जवान अकेला पाँच सौ के लिये काफ़ी है।

हिन्दुस्तान में या सारी दुनिया में और कहीं नहीं पाया जाता। ये मेरे संस्कार थे।

मैं माता-पिता का परम भक्त था। मैं मानता था कि वे मेरे मांसाहार की बात जानेंगे, तो बिना मौत के उनकी तत्काल मृत्यु हो जायेगी। जाने-अनजाने मैं सत्य का सेवक तो था ही। मैं यह नहीं कह सकता कि उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि मांसाहार करने में माता-पिता को धोखा देना होगा।

ऐसी हालत में मांसाहार करने का मेरा निश्चय मेरे लिये बहुत गम्भीर और भयंकर बात थी।

लेकिन मुझे तो सुधार करना था। मांसाहार का शौक़ नहीं था। यह सोचकर कि उसमें स्वाद है, मैं मांसाहार शुरू नहीं कर रहा था। मुझे तो बलवान और साहसी बनना था, दूसरों को वैसा बनने के लिये न्योतना था। और फिर अंग्रेज़ों को हरा कर हिन्दुस्तान को स्वतंत्र करना था। 'स्वराज्य' शब्द उस समय तक मैंने सुना नहीं था। सुधार के इस जोश में मैं होश भूल गया।

: ५ :

दुःखद प्रसंग—२

निश्चित दिन आया। अपनी स्थिति का सम्पूर्ण वर्णन करना मेरे लिये कठिन है। एक

तरफ़ सुधार का उत्साह था, जीवन में महत्त्व का परिवर्तन करने का कुतूहल था, और दूसरी तरफ़ चोर की तरह छिपकर काम करने की शरम थी। मुझे याद नहीं पड़ता कि इसमें मुख्य वस्तु क्या थी। हम नदी की तरफ़ एकांत की खोज में चले। दूर जाकर ऐसा कोना खोजा, जहां कोई देख न सके, और वहां मैंने कभी न देखी हुई वस्तु---मांस---देखी ! साथ में भटियारखाने की डबलरोटी थी। दोनों में से एक भी चीज़ मुझे भाती नहीं थी। मांस चमड़े-जैसा लगता था। खाना असम्भव हो गया। मुझे कै होने लगी। खाना छोड़ देना पड़ा।

मेरी वह रात बहुत बुरी बीती। नींद नहीं आयी। सपने में ऐसा भास होता था, मानो शरीर के अन्दर बकरा ज़िन्दा हो और रो रहा हो। मैं चौंक उठता, पछताता, और फिर सोचता कि मुझे तो मांसाहार करना ही है, हिम्मत नहीं हारनी है ! मित्र भी हार खानेवाले नहीं थे। उन्होंने अब मांस को अलग-अलग ढंग से पकाने, सजाने और ढंकने का प्रबन्ध किया। नदी किनारे ले जाने के बदले किसी बावरची के साथ बात-चीत करके छिपे-छिपे एक सरकारी डाक-बंगले पर ले जाने की व्यवस्था की और वहां कुर्सी, मेज़ वग़ैरा सामान के प्रलोभन में मुझे डाला।

इसका असर हुआ। डबलरोटी की नफ़रत कुछ कम पड़ी, बकरे की दया छूटी और मांस का तो कह नहीं सकता, पर मांसवाले पदार्थों में स्वाद आने लगा। इस तरह एक साल

बीता होगा और इस बीच पांच-छः बार मांस खाने को मिला होगा, क्योंकि डाक-बंगला सदा सुलभ न रहता था, और मांस के स्वादिष्ट माने जानेवाले बढ़िया पदार्थ भी सदा तैयार नहीं हो सकते थे। फिर ऐसे भोजनों पर पैसा भी ख़र्च होता था। मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी, इसलिये मैं कुछ दे नहीं सकता था। इस ख़र्च की व्यवस्था उन मित्र को ही करनी होती थी। उन्होंने कहां से, कैसे, व्यवस्था की, इसका मुझे आज तक पता नहीं है। उनका इरादा तो मुझे मांस की आदत लगा देने का—भ्रष्ट करने का—था, इसलिये पैसा वे अपने पास से ख़र्च करते थे। पर उनके पास भी कोई अखूट ख़ज़ाना नहीं था, इसलिये ऐसी दावतें कभी-कभी ही हो सकती थीं।

जब-जब ऐसा भोजन मिलता, तब-तब घर पर तो भोजन हो ही नहीं सकता था। जब माताजी भोजन के लिये बुलातीं, तब 'आज भूख नहीं है, खाना हज़म नहीं हुआ है' ऐसे बहाने बनाने पड़ते थे। ऐसा कहते समय हर बार मुझे भारी आघात पहुंचता था। यह झूठ, सो भी मां के सामने! और अगर माता-पिता को पता चले कि लड़के मांसाहारी हो गये हैं, तब तो उन पर बिजली ही टूट पड़ेगी।

झूठ बोलना मांस खाने से भी बुरा

ये विचार मेरे दिल को कुरेदते रहते थे, इसलिये मैंने निश्चय किया : 'मांस खाना आवश्यक है; उसका प्रचार करके हिन्दुस्तान को सुधारेंगे;

पर माता-पिता को धोखा देना और झूठ बोलना तो मांस न खाने से भी बुरा है। इसलिये माता-पिता के जीते-जी मांस नहीं खाना चाहिये। उनकी मृत्यु के बाद, स्वतंत्र होने पर, खुले तौर से मांस खाना चाहिये और जब तक वह समय न आवे, तब तक मांसाहार का त्याग करना चाहिये।' अपना यह निश्चय मैंने मित्र को जता दिया, और तब से मांसाहार जो छूटा सो सदा के लिये छूट गया। माता-पिता कभी यह जान ही न पाये कि उनके दो पुत्र मांसाहार कर चुके हैं।

माता-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार से मैंने मांसाहार छोड़ा, पर वह मित्रता नहीं छोड़ी। मैं सुधारने चला था पर ख़ुद ही गिरा, और गिरावट का मुझे होश तक न रहा।

: ६ :

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहार के समय के और उससे पहले के कुछ दोषों का वर्णन अभी रह गया है। ये दोष विवाह से पहले के अथवा उसके तुरन्त बाद के हैं।

अपने एक रिश्तेदार के साथ मुझे बीड़ी पीने का शौक़ लगा। हमारे पास पैसे नहीं थे। हम दोनों में से किसी का यह ख़्याल तो नहीं था कि बीड़ी पीने में कोई फ़ायदा है,

अथवा उसकी गन्ध में आनन्द है। पर हमें लगा कि सिर्फ़ धुआं उड़ाने में ही कुछ मज़ा है। मेरे काकाजी को बीड़ी पीने की आदत थी। उन्हें और दूसरों को धुआं उड़ाते देख कर हमें भी बीड़ी फूंकने की इच्छा हुई। गांठ में पैसे तो थे नहीं, इसलिये काकाजी पीने के बाद बीड़ी के जो 'ठूंठ' फेंक देते, हमने उन्हें चुराना शुरू किया।

पर बीड़ी के ये ठूंठ हर समय मिल नहीं सकते थे, और उनमें से बहुत धुआं भी नहीं निकलता था। इसलिये नौकर की जेब में पड़े दो-चार पैसों में से हमने एकाध पैसा चुराने की आदत डाली, और हम बीड़ी ख़रीदने लगे। पर सवाल यह पैदा हुआ कि उसे संभाल कर रखें कहां। हम जानते थे कि बड़ों के देखते तो बीड़ी पी ही नहीं सकते। जैसे-तैसे दो-चार पैसे चुराकर कुछ हफ़्ते काम चलाया। इस बीच सुना कि एक प्रकार का पौधा होता है (उसका नाम तो भूल गया हूं), जिसके डंठल बीड़ी की तरह जलते हैं और फूंके जा सकते हैं। हमने उन्हें प्राप्त किया और फूंकने लगे!

पर हमें संतोष नहीं हुआ। अपनी पराधीनता हमें अखरने लगी। हमें दुःख इस बात का था कि बड़ों की आज्ञा के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते थे। हम ऊब गये और हमने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया!

अपनी आत्महत्या करने का विचार

पर आत्महत्या कैसे करें? ज़हर कौन

दे ? हमने सुना कि धतूरे के बीज खाने से मृत्यु होती है। हम जंगल में जा कर बीज ले आये। शाम का समय तय किया। केदारनाथजी के मन्दिर की दीपमाला में घी चढ़ाया, दर्शन किये, और एकान्त खोज लिया। पर ज़हर खाने की हिम्मत न हुई। अगर तुरन्त ही मृत्यु न हुई, तो क्या होगा ? मरने से लाभ क्या ? क्यों न पराधीनता ही सह ली जाये ? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खाने की हिम्मत ही न पड़ी। दोनों मौत से डरे, और यह निश्चय किया कि रामजी के मन्दिर में जाकर दर्शन करके शान्त हो जायें और आत्महत्या की बात भूल जायें।

मेरी समझ में आया कि आत्महत्या का विचार करना सरल है, आत्महत्या करना सरल नहीं। इसलिये कोई आत्महत्या करने की धमकी देता है, तो मुझ पर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहना ठीक होगा कि कोई असर होता ही नहीं।

अपनी बीड़ी फूंकने की आदत छोड़ना

आत्महत्या के इस विचार का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों जूठी बीड़ी चुरा कर पीने की और नौकर के पैसे चुराकर बीड़ी ख़रीदने और फूंकने की आदत भूल गये। फिर बड़ेपन में बीड़ी पीने की कभी इच्छा नहीं हुई। मैंने हमेशा यह माना है कि यह आदत जंगली, गन्दी और हानिकारक है। दुनिया में बीड़ी का इतना ज़बरदस्त शौक़ क्यों है, इसे मैं कभी समझ नहीं सका हूं।

रेलगाड़ी के जिस डिब्बे में बहुत बीड़ी पी जाती है, वहां बैठना मेरे लिये मुश्किल हो जाता है, और उसके धुयें से मेरा दम घुटने लगता है।

मेरा सोना चुराना

बीड़ी के ठूंठ चुराने और इसी सिलसिले में नौकर के पैसे चुराने के दोष की तुलना में मुझसे चोरी का दूसरा जो दोष हुआ, उसे मैं अधिक गम्भीर मानता हूं। बीड़ी के दोष के समय मेरी उमर बारह-तेरह साल की रही होगी; शायद इससे कम भी हो। दूसरी चोरी के समय मेरी उमर पन्द्रह साल की रही होगी। यह चोरी मेरे मांसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की थी। उन पर मामूली-सा, लगभग पच्चीस रुपये का, क़र्ज़ हो गया था। उसकी अदायगी के बारे में हम दोनों भाई सोच रहे थे। मेरे भाई के हाथ में सोने का ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काट लेना मुश्किल न था।

कड़ा कटा। क़र्ज़ अदा हुआ। पर मेरे लिये यह बात असह्य हो गयी। मैंने निश्चय किया कि आगे कभी चोरी करूंगा ही नहीं। मुझे लगा कि पिताजी के सम्मुख अपना दोष स्वीकार भी कर लेना चाहिये। पर जीभ न खुली। पिताजी स्वयं मुझे पीटेंगे, इसका डर तो था ही नहीं। मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी हममें से किसी भाई को पीटा हो। पर खुद दुःखी होंगे, शायद सिर फोड़ लें। मैंने सोचा कि यह जोखिम

उठाकर भी दोष क़बूल कर ही लेना चाहिये, उसके बिना शुद्धि नहीं होगी।

अपना दोष स्वीकार करना

आख़िर मैंने तय किया कि चिट्ठी लिखकर दोष स्वीकार किया जाये, और क्षमा मांग ली जाये। मैंने चिट्ठी लिखकर हाथोंहाथ दी। चिट्ठी में सारा दोष स्वीकार किया और सज़ा चाही। आग्रहपूर्वक विनती की कि वे अपने को दुःख में न डालें, और भविष्य में फिर ऐसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा की।

मैंन कांपते हाथों चिट्ठी पिताजी के हाथ में दी। मैं उनके तख़्त के सामने बैठ गया। उन दिनों वे भगन्दर की बीमारी से पीड़ित थे, इस कारण बिस्तर पर ही पड़े रहते थे। खटिया के बदले लकड़ी का तख़्त काम में लाते थे।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आंखों से मोती की बूंदें टपकीं। चिट्ठी भीग गई। उन्होंने क्षण भर के लिये आंखें मूंदीं, चिट्ठी फाड़ डाली और स्वयं पढ़ने के लिये उठ बैठे थे, सो वापस लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजी का दुःख समझ सका। अगर मैं चित्रकार होता, तो वह चित्र आज सम्पूर्णता से खींच सकता। आज भी वह मेरी आंखों के सामने इतना स्पष्ट है।

पिताजी की शान्त क्षमा

मोती की बूंदों के उस प्रेमबाण ने मुझे बेध

डाला। मैं शुद्ध बना। इस प्रेम को तो अनुभवी ही जान सकता है।

"रामबाण वाग्यां रे होय ते जाणे"।

(राम की भक्ति का बाण जिसे लगा हो वही जान सकता है।)

मेरे लिये यह अहिंसा का पदार्थ पाठ था। उस समय तो मैंने इसमें पिता के प्रेम के सिवा और कुछ नहीं देखा, पर आज मैं इसे शुद्ध अहिंसा के नाम से पहचान सकता हूं। ऐसी अहिंसा के व्यापक रूप धारण कर लेने पर उसके स्पर्श से कौन बच सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसा की शक्ति की थाह लेना असम्भव है।

इस प्रकार की शान्त क्षमा पिताजी के स्वभाव के विरुद्ध थी। मैंने सोचा था कि वे क्रोध करेंगे, कटु वचन कहेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे। पर उन्होंने इतनी अपार शान्ति जो धारण की, मेरे विचार में उसका कारण अपराध की सरल स्वीकृति थी। जो मनुष्य अधिकारी के सम्मुख स्वेच्छा से और निष्कपट भाव से अपना अपराध स्वीकार कर लेता है, और फिर कभी वैसी अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है।

मैं जानता हूं कि मेरी इस स्वीकृति से पिताजी मेरे विषय में निर्भय बने, और उनका महान प्रेम और भी बढ़ गया।

: ७ :

पिताजी की मृत्यु

उस समय मैं सोलह वर्ष का था। हम ऊपर देख चुके हैं कि पिताजी भगन्दर की बीमारी के कारण बिल्कुल शय्यावश थे। उनकी सेवा में अधिकतर माताजी, घर का एक पुराना नौकर और मैं रहता था। मेरे ज़िम्मे 'नर्स' का काम था। उनका घाव धोना, उसमें दवा डालना, मरहम लगाने के समय मरहम लगाना, उन्हें दवा पिलाना और जब घर पर दवा तैयार करनी हो तो तैयार करना, यह मेरा ख़ास काम था। रात हमेशा उनके पैर दबाना और इजाज़त देने पर अथवा उनके सो जाने पर सोना, यह मेरा नियम था। मुझे यह सेवा बहुत प्रिय थी। मुझे स्मरण नहीं है कि इसमें मैं किसी भी दिन चूका होऊं। ये दिन हाई स्कूल के तो थे ही। इसलिये खाने-पीने के बाद का मेरा समय स्कूल में अथवा पिताजी की सेवा में ही बीतता था। जिस दिन उनकी आज्ञा मिलती और उनकी तबीयत ठीक रहती, उस दिन शाम को टहलने जाता था।

मेरे पिताजी अधिक बीमार

पिताजी की बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्यों ने अपने लेप आज़माये, हकीमों ने मरहम-पट्टियां आज़मायीं, साधारण हज्जाम वग़ैरा की घरेलू दवायें भी कीं; अंग्रेज़ डाक्टर ने भी अपनी अक़्ल

आज़मा कर देखी। अंग्रेज़ डाक्टर ने सुझाया कि शस्त्र-क्रिया ही रोग का एकमात्र उपाय है। परिवार के एक मित्र वैद्य बीच में पड़े, और उन्होंने पिताजी की उत्तरावस्था में ऐसी शस्त्र-क्रिया को नापसंद किया। तरह-तरह की दवाओं की जो बोतलें ख़रीदी थीं वे व्यर्थ गयीं, और शस्त्र-क्रिया नहीं हुई। वैद्यराज प्रवीण और प्रसिद्ध थे। मेरा ख़्याल है कि अगर वे शस्त्र-क्रिया होने देते तो घाव के भरने में दिक़्क़त न होती। शस्त्र-क्रिया उस समय के बम्बई के प्रसिद्ध सर्जन के द्वारा होने को थी। पर अन्तकाल समीप था, इसलिये उचित उपाय कैसे हो पाता? पिताजी शस्त्र-क्रिया कराये बिना ही बम्बई से वापस आये। साथ में इस निमित्त से ख़रीदा हुआ सामान भी लेते आये। वे अधिक जीने की आशा छोड़ चुके थे। कमज़ोरी बढ़ती गयी, और ऐसी स्थिति आ पहुंची कि प्रत्येक क्रिया बिस्तर पर ही करना ज़रूरी हो गया। लेकिन उन्होंने आख़िरी घड़ी तक इसका विरोध ही किया, और परिश्रम सहने का आग्रह रखा। वैष्णव धर्म का यह कठोर शासन है। बाह्य शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। पर पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र ने हमें सिखाया है कि मल-मूत्र-विसर्जन की और स्नानादि की सब क्रियायें बिस्तर पर लेटे-लेटे संपूर्ण स्वच्छता के साथ की जा सकती हैं, और रोगी को कष्ट उठाने की ज़रूरत नहीं पड़ती; जब देखो तब उसका बिछौना स्वच्छ ही होगा। इस तरह साधी गयी स्वच्छता को मैं तो वैष्णव धर्म का ही नाम दूंगा। पर उस समय स्नानादि के लिये बिछौना छोड़ने का

पिताजी का आग्रह देख कर मैं आश्चर्यचकित ही होता था, और मन में उनकी स्तुति किया करता था।

घोर रात्री

अवसान की घोर रात्रि समीप आयी। उन दिनों मेरे चाचाजी राजकोट में थे। मेरा कुछ ऐसा ख़्याल है कि पिताजी की बढ़ती हुई बीमारी के समाचार पाकर ही वे आये थे। दोनों भाइयों के बीच अटूट प्रेम था। चाचाजी दिन भर पिताजी के बिस्तर के पास ही बैठे रहते, और हम सब को सोने की इजाज़त देकर खुद पिताजी के बिस्तर के पास सोते। किसी को यह ख़याल तो था ही नहीं कि यह रात आख़िरी सिद्ध होगी। वैसे, डर तो बराबर बना ही रहता था। रात के साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजी ने मुझ से कहा: "तू जा, अब मैं बैठूंगा।" मैं ख़ुश हुआ, और सीधा बिस्तर में घुसा। पांच-सात मिनट बीते होंगे, इतने में नौकर ने आकर किवाड़ खटखटाया। मुझे धक्का-सा लगा। मैं चौंका। नौकर ने कहा "उठो, बापू बहुत बीमार हैं।" मैं जानता था कि वे बहुत बीमार तो थे ही, इसलिये यहां 'बहुत बीमार' का विशेष अर्थ समझ गया। एकदम बिस्तर से कूद पड़ा।

"कह तो सही, बात क्या है?"

जवाब मिला, "बापू गुज़र गये!"

अब मेरा पछताना किस काम आता? मैं बहुत शरमाया। बहुत दुःखी हुआ। दौड़कर

पिताजी के कमरे में पहुंचा। पिताजी को अपने अवसान का अन्दाज़ हो चुका था। उन्होंने इशारा करके लिखने का सामान मंगाया और काग़ज़ पर लिखा: "तैयारी करो।" इतना लिखकर उन्होंने अपने हाथ पर बंधा तावीज़ तोड़कर फेंक दिया, सोने की कण्ठी भी तोड़ कर फेंक दी, और एक क्षण में आत्मा उड़ गई।

: ८ :

धर्म की झांकी

छः या सात साल से लेकर सोलह साल की उमर तक मैंने पढ़ाई की, पर स्कूल में कहीं भी धर्म की शिक्षा नहीं मिली। यों कह सकते हैं कि शिक्षकों से जो आसानी से मिलना चाहिये था वह नहीं मिला। फिर भी वातावरण से कुछ-न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहां धर्म का उदार अर्थ करना चाहिये। धर्म अर्थात् आत्मबोध, आत्मज्ञान। मैं वैष्णव सम्प्रदाय में जन्मा था, इसलिये हवेली में जाने के प्रसंग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। हवेली वैभव मुझे अच्छा नहीं लगा। हवेली में चलने वाली अनीति की बातें सुन कर मन उसके प्रति उदासीन बन गया। वहां से मुझे कुछ भी न मिला।

रामनाम—अमोघ शक्ति

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी

धाय रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं ऊपर कह चुका हूं कि मुझे भूत-प्रेत आदि का डर लगता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिये बचपन में भूत-प्रेतादि के भय से बचने के लिये मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपन में जो बीज बोया गया, वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिये अमोघ शक्ति है। मैं मानता हूं कि उसके मूल में रम्भा-बाई का बोया हुआ बीज है।

इसी अरसे में मेरे चाचाजी के एक लड़के ने, जो रामायण के भक्त थे, हम दो भाइयों को राम-रक्षा का पाठ सिखाने की व्यवस्था की। हमने उसे कण्ठाग्र कर लिया और स्नान के बाद उसके नित्य-पाठ का नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर रहे, यह नियम चला। राजकोट के वातावरण में यह टिक न सका। इस क्रिया के प्रति भी ख़ास श्रद्धा नहीं थी। अपने बड़े भाई के लिये मन में जो आदर था उसके कारण, और कुछ शुद्ध उच्चारणों के साथ राम-रक्षा का पाठ कर पाते हैं, इस अभिमान के कारण पाठ चलता रहा।

रामायण का पारायण

पर जिस चीज़ का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा, वह था रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का थोड़ा समय पोरबन्दर में बीता था।

वहां वे रोज़ रात के समय रामायण सुनते थे। सुनानेवाले रामचन्द्रजी के परम भक्त थे। उनके बारे में यह कहा जाता था कि उन्हें कोढ़ की बीमारी हुई, तो उसका इलाज करने के बदले उन्होंने बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बेलपत्र लेकर कोढ़वाले अंग पर बांधे और केवल रामनाम का जप शुरू किया। अन्त में उनका कोढ़ जड़मूल से नष्ट हो गया। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालों ने तो सच ही मानी। उनका कण्ठ मीठा था। वे दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते थे। स्वयं उसके रस में लीन हो जाते थे और श्रोताजनों को भी लीन कर देते थे। उस समय मेरी उमर तेरह साल की रही होगी, पर याद पड़ता है कि उनके पाठ में मुझे ख़ूब रस आता था। यह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेम की बुनियाद है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूं।

भागवत का पारायण

कुछ महीनों के बाद हम राजकोट आये। वहां रामायण का पाठ नहीं होता था। एकादशी के दिन भागवत ज़रूर पढ़ी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भट्टजी रस उत्पन्न नहीं कर सके। आज मैं यह देख सकता हूं कि भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसके पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजराती में बड़े चाव से पढ़ा है। लेकिन इक्कीस दिन के अपने

उपवास काल में भारत-भूषण पंडित मदन मोहन मालवीयजी के शुभ मुख से मूल संस्कृत के कुछ अंश जब सुने, तो ख़्याल हुआ कि बचपन में उनके समान भगवद्-भक्त के मुंह से भागवत सुनी होती, तो उस पर उसी उमर में मेरा गाढ़ प्रेम हो जाता। बचपन में पड़े हुए शुभ-अशुभ संस्कार बहुत गहरी जड़ जमाते हैं। इसे मैं ख़ूब अनुभव करता हूं; और इस कारण उस उमर में मुझे कई उत्तम ग्रन्थ सुनने का लाभ नहीं मिला, सो अब अखरता है।

सब धर्मों के प्रति समान भाव

राजकोट में मुझे अनायास ही सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। मैंने हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का आदर करना सीखा, क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मन्दिर में, शिवालय में और राम-मन्दिर में भी जाते और हम भाइयों को भी साथ ले जाते या भेजते थे।

फिर पिता के पास जैन धर्माचार्यों में से भी कोई न कोई हमेशा आते रहते थे। पिताजी उन्हें भिक्षा भी देते थे। वे पिताजी के साथ धर्म और व्यवहार की बातें किया करते थे। इसके सिवा, पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्म की चर्चा करते और पिताजी उनकी बातें सम्मानपूर्वक और अक्सर रसपूर्वक सुना करते थे। 'नर्स' होने के कारण ऐसी चर्चा के समय मैं अकसर हाज़िर रहता था। इस सारे वातावरण का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझमें सब धर्मों के लिये समान भाव पैदा हो गया।

ईसाई धर्म के प्रति अरुचि

एक ईसाई धर्म अपवादरूप था। उसके प्रति कुछ अरुचि थी। उन दिनों कुछ ईसाई हाई स्कूल के कोने पर खड़े होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओं की और हिन्दू धर्म को माननेवालों की बुराई करते थे। मुझे यह असह्य मालूम हुआ। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिये खड़ा रहा होऊंगा। दूसरी बार फिर वहां खड़े रहने की इच्छा ही न हुई। उन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई बनने की बात सुनी। गांव में चर्चा थी कि उन्हें ईसाई धर्म की दीक्षा देते समय गोमांस खिलाया गया और शराब पिलायी गई। उनकी पोशाक भी बदल दी गई। और ईसाई बनने के बाद वे भाई कोट-पतलून और अंग्रेज़ी टोप पहनने लगे। इन बातों से मुझे पीड़ा पहुंची। जिस धर्म के कारण गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपनी पोशाक़ बदलनी पड़े, उसे धर्म कैसे कहा जाय? मेरे मन ने यह दलील की। फिर यह भी सुनने में आया कि जो भाई ईसाई बने थे, उन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाजों की और देश की निन्दा करना शुरू कर दिया था। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी।

मनुस्मृति

इस तरह यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव जागा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वर के प्रति आस्था थी। इन्हीं दिनों पिताजी

के पुस्तक-संग्रह में से मनुस्मृति का भाषांतर मेरे हाथ में आया। उसमें संसार की उत्पत्ति आदि की बातें पढ़ीं। उन पर श्रद्धा नहीं जमी, उलटे थोड़ी नास्तिकता ही पैदा हुई। मेरे दूसरे चाचाजी के लड़के की, जो अभी जीवित हैं, बुद्धि पर मुझे विश्वास था। मैंने अपनी शंकायें उनके सामने रखीं, पर वे मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने मुझे उत्तर दिया: "सयाने होने पर ऐसे प्रश्नों के उत्तर तुम खुद दे सकोगे। बालकों को ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिये।" मैं चुप रहा। मन को शान्ति नहीं मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य-विषयक प्रकरण में और दूसरे प्रकरणों में भी मैंने वर्तमान प्रथा का विरोध पाया। इस शंका का उत्तर भी मुझे लगभग ऊपर के जैसा ही मिला। मैंने यह सोचकर अपने मन को समझा लिया कि 'किसी दिन बुद्धि खुलेगी। अधिक पढ़ूंगा और समझूंगा।' उस समय मनुस्मृति पढ़कर मैं अहिंसा तो सीख ही न सका। मांसाहार की चर्चा हो चुकी है। उसे मनुस्मृति का समर्थन मिला। यह भी ख़याल हुआ कि सर्पादि और खटमल आदि को मारना नीति है। मुझे याद है कि उस समय मैंने धर्म समझ कर खटमल आदि का नाश किया था।

नीति—सब चीज़ों की जड़

पर एक चीज़ ने मन में जड़ जमा ली—यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य में है। सत्य को तो खोजना ही होगा। दिन-पर-दिन सत्य की महिमा मेरे निकट बढ़ती

गयी। सत्य की व्याख्या विस्तृत होती गयी, और अभी भी हो रही है।

फिर, नीति का एक छप्पय दिल में बस गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है, यह एक जीवन-सूत्र ही बन गया। उसने मुझ पर साम्राज्य चलाना शुरू किया। अपकारी का भला चाहना और करना, इसका मैं अनुरागी बन गया। इसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है :

> "पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
> आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे।
> आपण घासे दाम, काम महोरोनुं करीए;
> आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए।
> गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
> अवगुण केडे जे गुण करे, ते जग मां जीत्यो सही।[१]"

---

[१] **जो हमें पानी पिलाये, उसे हम अच्छा भोजन करायें। जो आकर हमारे सामने सिर नवाये, उसे हम उमंग से दण्डवत प्रणाम करें। जो हमारे लिये एक पैसा ख़र्च करे, उसका हम मुहरों की क़ीमत का काम कर दें। जो हमारे प्राण बचावे, उसका दुःख दूर करने के लिये हम अपने प्राण तक निछावर कर दें। जो हमारा उपकार करे, उसका तो हमें मन, वचन और कर्म से दस गुना उपकार करना ही चाहिये। लेकिन जग में सच्चा और सार्थक जीना उसी का है, जो अपकार करने वाले के प्रति भी उपकार करता है।**

: ९ :

विलायत की तैयारी

सन् १८८७ में मैंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। देश की और गांधी-कुटुम्ब की ग़रीबी ऐसी थी कि अहमदाबाद और बम्बई जैसे परीक्षा के दो केन्द्र हों, तो वैसी स्थिति वाले काठियावाड़-निवासी नज़दीक के और सस्ते अहमदाबाद को पसन्द करते थे। वही मैंने किया। मैंने पहले-पहल राजकोट से अहमदाबाद की यात्रा अकेले की।

बड़ों की इच्छा थी कि पास हो जाने पर मुझे आगे कॉलेज की पढ़ाई करनी चाहिये। कॉलेज बम्बई में भी था और भावनगर में भी। भावनगर का ख़र्च कम था, इसलिये भावनगर के शामलदास कॉलेज में भरती होने का निश्चय हुआ। कॉलेज में मुझे कुछ आता न था। सब कुछ मुश्किल मालूम होता था। अध्यापकों के व्याख्यानों में न रस आता, और न मैं उन्हें समझ पाता। इसमें दोष अध्यापकों का नहीं, मेरी कमज़ोरी का ही था। उस समय के शामलदास कॉलेज के अध्यापक तो प्रथम पंक्ति के माने जाते थे। पहला सत्र पूरा कर के मैं घर आया।

कुटुम्ब के मित्र की सलाह

कुटुम्ब के पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान, व्यवहार-कुशल ब्राह्मण मावजी दवे थे। पिताजी के स्वर्गवास के बाद भी उन्होंने कुटुम्ब के

साथ सम्बन्ध बनाये रखा था। वे छुट्टी के इन दिनों में घर आये। माताजी और बड़े भाई के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने मेरी पढ़ाई के बारे में पूछताछ की। जब सुना कि मै शामलदास कॉलेज में हूं, तो बोले: "ज़माना बदल गया है। तुम भाइयों में से कोई कबा गांधी की गादी संभालना चाहे तो बिना पढ़ाई के वह नहीं होगा। यह लड़का अभी पढ़ रहा है, इसलिये गादी संभालने का बोझ इससे उठवाना चाहिये। इसे चार-पांच साल तो अभी बी० ए० होने में लग जायेंगे, और इतना समय देने पर भी इसे ५०-६० रुपये की नौकरी मिलेगी, दीवानगीरी नहीं। और अगर इसे उसके बाद मेरे लड़के की तरह वकील बनायें, तो थोड़े वर्ष और लग जायेंगे। और तब तक तो दीवानगीरी के लिये वकील भी बहुत से तैयार हो चुकेंगे। आपको इसे विलायत भेजना चाहिये। केवलराम (मावजी दवे के लड़के का नाम) कहता है कि वहां की पढ़ायी सरल है। तीन साल में पढ़कर लौट आयेगा। ख़र्च भी चार-पांच हज़ार से अधिक नहीं होगा। नये आये हुए बारिस्टरों को देखो, वे कैसे ठाठ से रहते हैं! वे चाहें तो उन्हें दीवानगीरी आज मिल सकती है। मेरी तो सलाह है कि आप मोहनदास को इसी साल विलायत भेज दीजिए। विलायत में मेरे केवलराम के कई दोस्त हैं; वह उनके नाम सिफ़ारिशी पत्र दे देगा, तो इसे वहां कोई कठिनाई नहीं होगी।"

मेरी स्वीकृती

जोशीजी ने (मावजी दवे को हम इस नाम

से पुकारते थे) मेरी तरफ़ देख कर मुझसे ऐसे लहज़े में पूछा, मानों उनकी सलाह के स्वीकृत होने में उन्हें कोई शंका ही न हो :

"क्यों, तुझे विलायत जाना अच्छा लगेगा या यहीं पढ़ते रहना ?" मुझे जो भाता था वही वैद्य ने बता दिया। मैं कॉलेज की कठिनाइयों से डर तो गया ही था। मैंने कहा: "मुझे विलायत भेजें तो बहुत ही अच्छा है। मुझे नहीं लगता कि मैं कॉलेज में जल्दी-जल्दी पास हो सकूंगा। पर क्या मुझे डॉक्टरी सीखने के लिये नहीं भेजा जा सकता ?"

मेरे भाई बीच में बोले : "पिताजी को यह पसन्द न था। तेरी चर्चा निकलने पर वे यही कहते थे कि हम वैष्णव होकर हाड़-मांस की चीर-फाड़ का काम न करें। पिताजी तो तुझे वकील ही बनाना चाहते थे।"

जोशीजी ने समर्थन किया :

"मुझे गांधीजी की तरह डॉक्टरी के पेशे से अरुचि नहीं है। हमारे शास्त्र इस धंधे की निन्दा नहीं करते। पर डॉक्टर बनकर तू दीवान नहीं बन सकेगा। मैं तो तेरे लिये दीवान-पद अथवा उससे भी अधिक चाहता हूं। तभी तुम्हारे बड़े परिवार का निर्वाह हो सकेगा। ज़माना दिन-पर-दिन बदलता जा रहा है, और मुश्किल होता जाता है। इसलिये बारिस्टर बनने में ही बुद्धिमानी है।"

माताजी की ओर मुड़कर उन्होंने कहा : "अब तो मैं जाता हूं। मेरी बात पर विचार करके

देखिये। जब मैं लौटूंगा तो तैयारी के समाचार सुनने की आशा रखूंगा। कोई कठिनाई हो तो मुझसे कहिये।"

जोशीजी गये, और मैं हवाई क़िले बनाने लगा।

बड़े भाई सोच में पड़ गये। पैसा कहां से आयेगा? और, मेरे जैसे नौजवान को इतनी दूर कैसे भेजा जाये!

माताजी को कुछ सूझ न पड़ा। वियोग की बात उन्हें जंची ही नहीं। पर पहले तो उन्होंने यही कहा: "हमारे परिवार में अब बुज़ुर्ग तो चाचाजी ही रहे हैं। इसलिये पहले उनकी सलाह लेनी चाहिये। वे आज्ञा दें तो फिर हमें सोचना होगा।"

बड़े भाई को दूसरा विचार सूझा: "पोरबन्दर राज्य पर हमारा हक़ है। लेली साहब एडमिनिस्ट्रेटर हैं। हमारे परिवार के बारे में उनका अच्छा ख़्याल है। चाचाजी पर उनकी ख़ास मेहरबानी है। सम्भव है, वे राज्य की तरफ़ से तुझे थोड़ी-बहुत मदद दें।"

मुझे यह सब अच्छा लगा। मैं पोरबन्दर जाने के लिये तैयार हुआ। उन दिनों रेल नहीं थी। बैलगाड़ी का रास्ता था। पांच दिन में पहुंचा जाता था। मैं कह चुका हूं कि मैं ख़ुद डरपोक था। पर इस बार मेरा डर भाग गया। विलायत जाने की इच्छा ने मुझे प्रभावित किया। मैंने धोराजी तक की बैलगाड़ी की। धोराजी से आगे, एक दिन पहले पहुंचने के विचार से, ऊंट किराये पर लिया।

ऊंट की सवारी का भी मेरा यह पहला अनुभव था।

चाचाजी की शंकायें

मैं पोरबन्दर पहुंचा। चाचाजी को साष्टांग प्रणाम किया। सारी बात सुनायी। उन्होंने सोच-कर जवाब दिया :

"मैं नहीं जानता कि विलायत जाने पर हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं या नहीं। जो बातें सुनता हूं, उनसे तो शक पैदा होता है। मैं जब बड़े बारिस्टरों से मिलता हूं तो उनकी रहन-सहन में और साहबों की रहन-सहन में कोई भेद नहीं पाता। खाने-पीने का कोई बंधन उन्हें होता ही नहीं। सिगरेट तो कभी उनके मुंह से छूटती ही नहीं। पोशाक देखो, तो वह भी नंगी। यह सब हमारे कुटुम्ब को शोभा न देगा। पर मैं तेरे साहस में बाधा नहीं डालना चाहता। मैं तो कुछ दिनों बाद यात्रा पर जानेवाला हूं। अब मुझे कुछ ही साल जीना है। मृत्यु के किनारे बैठा हुआ मैं तुझे विलायत जाने की —समुद्र पार करने की— इजाज़त कैसे दूं? लेकिन मैं बाधक नहीं बनूंगा। सच्ची इजाज़त तो तेरी मां की है। अगर वह तुझे इजाज़त दे, तो तू ख़ुशी-ख़ुशी जाना। इतना कहना कि मैं तुझे रोकूंगा नहीं। मेरे आशीर्वाद तो तुझे हैं ही।"

मैंने कहा: "इससे अधिक की आशा तो मैं आपसे रख नहीं सकता। अब मुझे अपनी मां को

राज़ी करना होगा। पर लेली साहब के नाम आप मुझे सिफ़ारिशी पत्र तो देंगे न?"

चाचाजी ने कहा: "सो मैं कैसे दे सकता हूँ? लेकिन साहब सज्जन हैं, तू पत्र लिख कुटुम्ब का परिचय देना। वे ज़रूर तुझे मिलने का समय देंगे, और उन्हें रुचेगा तो मदद भी करेंगे।"

मैं नहीं जानता कि चाचाजी ने साहब के नाम सिफ़ारिश का पत्र क्यों नहीं दिया। मुझे धुंधली-सी याद है कि विलायत जाने के धर्म-विरुद्ध कार्य में इस तरह सीधी मदद करने में उन्हें संकोच हुआ।

मैंने लेली साहब को पत्र लिखा। उन्होंने अपने रहने के बंगले पर मुझे मिलने बुलाया। उस बंगले की सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते वे मुझसे मिले, और मुझे यह कहकर ऊपर चले गये: "तू बी० ए० कर ले, फिर मुझसे मिलना। अभी कोई मदद नहीं दी जा सकेगी।" मैं बहुत तैयारी करके, कई वाक्य रटकर गया था। नीचे झुककर दोनों हाथों से सलाम किया था। पर मेरी सारी मेहनत बेकार हुई।

मेरी दृष्टि पत्नी के गहनों पर गयी। बड़े भाई के प्रति मेरी अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारता की सीमा न थी। उनका प्रेम पिता के समान था।

मैं पोरबन्दर से बिदा हुआ। राजकोट आ कर सारी बात उन्हें सुनाई। जोशीजी के साथ सलाह की। उन्होंने क़र्ज़ करके भी मुझे भेजने की सिफ़ा-रिश की। मैंने अपनी पत्नी के हिस्से के गहने बेच

डालने का सुझाव रखा। उनसे २-३ हज़ार रुपये से अधिक नहीं मिल सकते थे। भाई ने, जैसे भी बने, रुपयों का प्रबंध करने का बीड़ा उठाया।

तीन चीज़ों का व्रत लेना

माताजी कैसे समझतीं? उन्होंने सब तरह की पूछ-ताछ शुरू कर दी थी। कोई कहता, नौजवान लोग विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं; कोई कहता, वे मांसाहार करने लगते हैं; कोई कहता, वहां शराब के बिना तो चलता ही नहीं। माताजी ने मुझे ये सारी बातें सुनायीं। मैंने कहा: "पर तू मेरा विश्वास नहीं करेगी? मैं तुझे धोखा नहीं दूंगा। शपथपूर्वक कहता हूं कि मैं इन तीनों चीज़ों से बचूंगा। अगर ऐसा ख़तरा होता, तो जोशीजी क्यों जाने देते?"

माताजी बोलीं: "मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देश में क्या हो? मेरी तो अक्ल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूंगी।"

बेचरजी स्वामी मोढ़ बनियों में से बने हुए एक जैन साधु थे। जोशीजी की तरह वे भी हमारे सलाहकार थे। उन्होंने मदद की। वे बोले: "मैं इस लड़के से इन तीनों चीज़ों के व्रत लिवाऊंगा। फिर इसे जाने देने में कोई हानि नहीं होगी।" उन्होंने प्रतिज्ञा लिवायी, और मैंने मांस, मदिरा तथा स्त्री-संग से दूर रहने की प्रतिज्ञा की। माताजी ने आज्ञा दी।

हाई स्कूल में सभा हुई। राजकोट का एक युवक विलायत जा रहा है, यह आश्चर्य का विषय

बना। मैं जवाब के लिये कुछ लिख ले गया था। जवाब देते समय उसे मुश्किल से पढ़ पाया। मुझे इतना याद है कि मेरा सिर घूम रहा था, और शरीर कांप रहा था।[1]

बड़ों के आशीर्वाद लेकर मैं बम्बई के लिये रवाना हुआ। बम्बई की यह मेरी पहली यात्रा थी। बड़े भाई साथ आये।

पर अच्छे काम में सौ विघ्न आते हैं। बम्बई का बन्दरगाह जल्दी छूट न सका।

: १० :

जाति से बाहर

माताजी की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर और पत्नी की गोद में कुछ महीनों का बालक छोड़ कर मैं उमंगों के साथ बम्बई पहुंचा। पहुंच तो गया, पर वहां मित्रों ने भाई को बताया कि जून-जुलाई में हिन्द महासागर में तूफ़ान आते हैं, और मेरी यह पहली ही समुद्री यात्रा है, इसलिये मुझे दीवाली के बाद यानी नवम्बर में रवाना करना चाहिये।

---

[1]इस अवसर पर गाँधीजी ने यह कहा था (४-७-१८८८):

"मुझे आशा है कि दूसरे भी मेरा अनुसरण करेंगे और इंगलैंड से लौटने के बाद हिन्दुस्तान में सुधार के बड़े-बड़े काम करने में सच्चे दिल से लग जायेंगे।"

काठियावाड़ टाइम्स : १२-७-१८८८

और, किसी ने तूफ़ान में किसी अगनबोट के डूब जाने की बात भी कही। इससे बडे भाई घबराये। उन्होंने ऐसा ख़तरा उठाकर मुझे तुरन्त रवाना करने से इनकार किया, और मुझको बम्बई में अपने मित्र के घर छोड़ कर ख़ुद वापस नौकरी पर हाज़िर होने के लिये राजकोट चले गये। वे एक बहनोई के पास पैसे छोड़ गये,और कुछ मित्रों से मेरी मदद करने की सिफ़ारिश करते गये।

बम्बई में मेरे लिये दिन काटना मुश्किल हो गया। मुझे विलायत के ही सपने आते रहते थे।

जातिवालों का विरोध

इस बीच जाति में खलबली मची। जाति की सभा बुलायी गयी। अभी तक कोई मोढ़ बनिया विलायत नहीं गया था। और, मैं जा रहा हूं, इसलिये मुझसे जवाब तलब किया जाना चाहिये! मुझे पंचायत में हाज़िर रहने का हुक्म मिला। मैं गया। मैं नहीं जानता कि मुझमें अचानक हिम्मत कहां से आ गयी। हाज़िर रहने में मुझे न तो संकोच हुआ, न डर लगा। जाति के सरपंच के साथ दूर का कुछ रिश्ता भी था। पिता-जी के साथ उनका सम्बन्ध अच्छा था। उन्होंने मुझसे कहा :

"जाति का ख़्याल है कि तूने विलायत जाने का जो विचार किया है, वह ठीक नहीं है। हमारे धर्म में समुद्र पार करने की मनाही है, तिस पर यह भी सुना जाता है कि वहां धर्म की रक्षा नहीं

हो पाती। वहां साहब लोगों के साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने जवाब दिया: "मुझे तो लगता है कि विलायत जाने में लेशमात्र भी अधर्म नहीं है। मुझे तो वहां जा कर विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन बातों का आपको डर है, उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा मैंने अपनी माताजी के सम्मुख ली है, इसलिये मैं उनसे दूर रह सकूंगा।"

सरपंच बोले: "पर हम तुझसे कहते हैं कि वहां धर्म की रक्षा हो ही नहीं सकती। तू जानता है कि तेरे पिताजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था। तुझे मेरी बात माननी चाहिये।"

मैंने जवाब में कहा: "आपके सम्बन्ध को मैं जानता हूं। आप पिता के समान हैं। पर इस बारे में मैं लाचार हूं। विलायत जाने का अपना निश्चय मैं बदल नहीं सकता। जो विद्वान ब्राह्मण मेरे पिता के मित्र और सलाहकार हैं, वे मानते हैं कि मेरे विलायत जाने में कोई दोष नहीं है। मुझे अपनी माताजी और अपने भाई की अनुमति भी मिल चुकी है।"

"पर तू जाति का हुक्म नहीं मानेगा?"

"मैं लाचार हूं। मेरा ख़्याल है कि इसमें जाति को दख़ल नहीं देना चाहिये।"

इस जवाब से सरपंच गुस्सा हुए। मुझे दो-चार बातें सुनाईं। मैं स्वस्थ बैठा रहा। सरपंच ने आदेश दिया:

"यह लड़का आज से जातिच्युत माना

जायेगा। जो कोई इसकी मदद करेगा अथवा इसे बिदा करने जायेगा, पंच उससे जवाब तलब करेंगे, और उससे सवा रुपया दण्ड का लिया जायेगा।"

मुझ पर इस निश्चय का कोई असर नहीं हुआ। मैंने सरपंच से बिदा ली। अब सोचना यह था कि इस निश्चय का मेरे भाई पर क्या असर होगा। कहीं वे डर गये तो? सौभाग्य से वे दृढ़ रहे, और मुझे लिख भेजा कि जाति के निश्चय के बावजूद वे मुझे विलायत जाने से नहीं रोकेंगे।

आख़िरी अड़चन

इस घटना के बाद मैं अधिक बेचैन हो गया। भाई पर दबाव पड़ा तो क्या होगा? दूसरा कोई विघ्न आ गया तो? इस चिन्ता में मैं अपने दिन बिता रहा था कि इतने में ख़बर मिली कि ४ सितम्बर को रवाना होनेवाले जहाज़ में जूनागढ़ के एक वकील बारिस्टरी के लिये विलायत जानेवाले हैं। बड़े भाई ने जिन मित्रों से मेरे बारे में कह रखा था, उनसे मैं मिला। उन्होंने भी यह साथ न छोड़ने की सलाह दी। समय बहुत कम था। मैंने भाई को तार किया और जाने की इजाज़त मांगी। उन्होंने इजाज़त दे दी। मैंने बहनोई से पैसे मांगे। उन्होंने जाति के हुक्म की चर्चा की। जातिच्युत होना उन्हें पुसाता न था। मैं अपने कुटुम्ब के एक मित्र के पास पहुंचा, और उनसे विनती की कि वे मुझे किराये वग़ैरा के लिये

आवश्यक रक़म दे दें और बाद में भाई से ले लें। उन मित्र ने ऐसा करना क़बूल किया; इतना ही नहीं, बल्कि मुझे हिम्मत भी बंधाई। मैंने उनका आभार माना, पैसे लिये, और टिकट ख़रीदा।

विलायत की यात्रा का सारा सामान तैयार करना था। दूसरे एक अनुभवी मित्र ने सामान तैयार करा दिया। मुझे सब अजीब-सा लगा। कुछ रुचा, कुछ बिलकुल नहीं रुचा। जिस नेक-टाई को मैं बाद में शौक़ से लगाने लगा था, वह तो बिलकुल नहीं रुची। वास्कट नंगी पोशाक मालूम हुई। पर विलायत जाने के शौक़ की तुलना में यह अरुचि कोई चीज़ न थी। रास्ते में खाने का सामान भी पर्याप्त ले लिया था।

मित्रों ने मेरे लिये जगह भी त्र्यम्बकराय मजमुदार (जूनागढ़ के वकील का नाम) की कोठरी में ही रखी थी। उनसे मेरे विषय में कह भी दिया था। वे तो प्रौढ़ उमर के अनुभवी सज्जन थे। मैं दुनिया के अनुभव से शून्य अठारह साल का नौजवान था। मजमुदार ने मित्रों से कहा: "आप इसकी फ़िक्र न करें।"

इस तरह १८८८ के सितम्बर महीने की ४ तारीख़ को मैंने बम्बई का बन्दरगाह छोड़ा।

: ११ :

आख़िर विलायत पहुंचा

जहाज़ में मुझे समुद्र का तो ज़रा भी कष्ट नहीं हुआ। पर जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, वैसे वैसे मैं अधिक परेशान होता जाता था। 'स्टुअर्ड' के साथ बातचीत करने में भी शरमाता था। अंग्रेज़ी में बात करने की मुझे आदत ही न थी। मजमुदार को छोड़ कर दूसरे सब मुसाफ़िर अंग्रेज़ थे। मैं उनके साथ बोल न पाता था। वे मुझसे बोलने का प्रयत्न करते, तो मैं समझ न पाता; और समझ लेता, तो जवाब क्या देना, सो सूझता न था। बोलने से पहले हरएक वाक्य को मन में जमाना पड़ता था। कांटे-चम्मच से खाना आता न था, और किस पदार्थ में मांस नहीं है, यह पूछने की हिम्मत नहीं होती थी। इसलिये मैं खाने की मेज़ पर तो कभी गया ही नहीं। अपनी कोठरी में ही खाता था। अपने साथ ख़ास करके मिठाई वग़ैरा लाया था, उन्हीं से मैंने काम चलाया। मजमुदार को तो कोई संकोच नहीं था। वे सबके साथ घुलमिल गये। डेक पर भी आज़ादी से जाते थे। मैं सारा दिन कोठरी में बैठा रहता था। कभीकदास, जब डेक पर थोड़े लोग होते, तो कुछ देर वहां बैठ लेता था। मजमुदार मुझे समझाते कि सबके साथ घुलो-मिलो, आज़ादी से बातचीत करो; वे मुझसे यह भी कहते कि वकील की जीभ ख़ूब चलनी चाहिये। वकील

के नाते वे अपने अनुभव सुनाते और कहते कि अंग्रेज़ी हमारी भाषा नहीं है, उसमें ग़लतियां तो होंगी ही, फिर भी खुलकर बोलते रहना चाहिये। पर मैं अपनी भीरुता छोड़ न पाता था।

मांस खाने से इनकार

मुझ पर दया करके एक भले अंग्रेज़ ने मुझसे बातचीत शुरू की। वे उमर में बड़े थे। मैं क्या खाता हूं, कौन हूं, कहां जा रहा हूं, किसीसे बातचीत क्यों नहीं करता, आदि प्रश्न वे पूछते रहते। उन्होंने मुझे खाने की मेज़ पर जाने की सलाह दी। मांस न खाने के मेरे आग्रह की बात सुनकर वे हंसे और मुझ पर तरस खाकर बोले, "यहां तो (पोर्टसईद पहुंचने से पहले तक) ठीक है, पर बिस्के की खाड़ी में पहुंचने पर तुम अपने विचार बदल लोगे। इंग्लैण्ड में तो इतनी ठंड पड़ती है कि मांस खाये बिना चलता ही नहीं।"

मैंने कहा: "मैंने सुना है कि वहां लोग मांसाहार के बिना रह सकते हैं।"

वे बोले: "इसे ग़लत समझो। अपने परिचितों में मैं ऐसे किसी आदमी को नहीं जानता, जो मांस न खाता हो। सुनो, मैं शराब पीता हूं, पर तुम्हें पीने के लिये नहीं कहता। लेकिन मैं समझता हूं कि तुम्हें मांस तो खाना ही चाहिये।"

मैंने कहा: "इस सलाह के लिये मैं आपका आभार मानता हूं, पर मांस न खाने के लिये मैं अपनी माताजी से वचन-बद्ध हूं। इस कारण मैं मांस नहीं खा सकता। अगर उसके बिना

काम ही न चला, तो मैं वापस हिन्दुस्तान चला जाऊंगा, पर मांस तो कभी न खाऊंगा।"

ब्रिस्के की खाड़ी आई। वहां भी मुझे न तो मांस की ज़रूरत मालूम हुई और न मदिरा की। मुझसे कहा गया था कि मैं मांस न खाने के प्रमाण-पत्र इकट्ठा कर लूं। इसलिये इन अंग्रेज़ मित्रों से मैंने प्रमाण-पत्र मांगा। उन्होंने ख़ुशी-ख़ुशी दिया। कुछ समय तक मैं उसे धन की तरह संभाले रहा। बाद में मुझे पता चला कि प्रमाण-पत्र तो मांस खाते हुये भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिये उनके बारे में मेरा मोह नष्ट हो गया। अगर मेरी बात पर भरोसा नहीं है, तो ऐसे मामले में प्रमाण-पत्र दिखाकर मुझे क्या लाभ हो सकता है?

सफ़ेद पोशाक पहनने की शरम

दुःख-सुख सहते हुए यात्रा समाप्त करके हम साउदेम्प्टन बन्दरगाह पर पहुंचे। मुझे याद है कि उस दिन शनिवार था। जहाज़ पर मैं काली पोशाक पहनता था। मित्रों ने मेरे लिये सफ़ेद फ़लालैन के कोट-पतलून भी बनवा दिये थे। उन्हें मैंने विलायत में उतरते समय पहनने का विचार कर रखा था, यह समझकर कि सफ़ेद कपड़े अधिक अच्छे लगेंगे! मैं फ़लालैन का सूट पहन कर उतरा। सितम्बर के आख़िरी दिन थे। मैंने वहां इस पोशाक में एक अपने को ही देखा। मेरी पेटियां और उनकी चाबियां तो ग्रिण्डले कम्पनी के एजेण्ट ले गये थे। सब की

तरह मुझे भी करना चाहिये, यह समझ कर मैंने तो अपनी चाबियां भी दे दी थीं !

मेरे पास चार सिफ़ारिशी पत्र थे : डॉक्टर प्राणजीवन मेहता के नाम, दलपतराम शुक्ल के नाम, प्रिन्स रणजीतसिंहजी के नाम और दादाभाई नवरोजी के नाम। मैंने साउदेम्प्टन से डॉक्टर मेहता को एक तार भेजा था। जहाज़ में किसी ने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटल में ठहरना चाहिये। इस कारण मजमुदार और मैं उस होटल में पहुंचे। मैं तो अपनी सफ़ेद पोशाक की शरम से ही गड़ा जा रहा था। तिस पर होटल में पहुंचने पर पता चला कि अगले दिन रविवार होने से ग्रिण्डले के यहां से सामान सोमवार तक नहीं आयेगा। इससे मैं परेशान हुआ।

यूरोप के रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में शिक्षा

सात-आठ बजे डॉक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेमभरा विनोद किया। मैंने अनजाने, रेशमी रोओंवाली उनकी टोपी देखने के ख़्याल से उठायी, और उस पर उलटा हाथ फेरा। इससे टोपी के रोयें खड़े हो गये। डॉक्टर मेहता ने देखा, मुझे तुरन्त ही रोका। पर अपराध तो हो चुका था। उनके रोकने का नतीजा तो यही निकल सकता था कि दुबारा वैसा अपराध न हो।

समझिये कि यहीं से यूरोप के रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में मेरी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। डॉक्टर मेहता हंसते-हंसते बहुत-सी बातें समझाते जाते थे। किसी की चीज़ छूनी नहीं चाहिये;

किसी से जान-पहचान होने पर जो प्रश्न हिन्दुस्तान में यों ही पूछे जा सकते हैं, वे यहां नहीं पूछे जा सकते; बातें करते समय ऊंची आवाज़ से नहीं बोल सकते; हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों से बात करते समय 'सर' कहने का जो रिवाज है, वह अनावश्यक है; 'सर' तो नौकर अपने मालिक से अथवा अपने बड़े अफ़सर से कहता है। फिर उन्होंने होटल में रहने के ख़र्च की भी चर्चा की, और सुझाया कि किसी निजी कुटुम्ब में रहने की ज़रूरत पड़ेगी। इस विषय में अधिक विचार सोमवार पर छोड़ा गया। कई सलाहें देकर डॉक्टर मेहता बिदा हुये।

होटल में तो हम दोनों को यही लगा कि हम कहां आ फंसे। होटल महंगा भी था। माल्टा से एक सिन्धी यात्री जहाज़ पर सवार हुए थे। मजमुदार उनसे अच्छे घुलमिल गये थे। ये सिन्धी यात्री लंदन के अच्छे जानकार थे। उन्होंने हमारे लिये दो कमरे किराये पर लेने की ज़िम्मेदारी उठाई। हम सहमत हुए, और सोमवार को जैसे ही सामान मिला, बिल चुका कर उक्त सिन्धी सज्जन द्वारा ठीक किये कमरों में हमने प्रवेश किया।

मुझे याद है कि मेरे हिस्से का होटल का बिल लगभग तीन पौण्ड का हुआ था। मैं तो उसे देखकर चकित ही रह गया। तीन पौण्ड देने पर भी भूखा रहा। होटल की कोई चीज़ मुझे रुचती नहीं थी। एक चीज़ ली और वह

नहीं रुची; दूसरी ली; पर दाम तो दोनों के ही चुकाने चाहिये। यह कहना ठीक होगा कि अभी तो मेरा काम बम्बई से लाये हुए पाथेय से ही चल रहा था।

घर की याद

इस कमरे में भी मैं बहुत परेशान रहा। देश की याद खूब आती थी। माता का प्रेम मूर्तिमन्त होता था। रात पड़ती और मैं रोना शुरू करता। घर की अनेक स्मृतियों की चढ़ाई के कारण नींद तो आ ही कैसे सकती थी? इस दुःख की चर्चा किसी से की भी नहीं जा सकती थी, करने से लाभ भी क्या था? मैं स्वयं नहीं जानता था कि किस उपाय से मुझे आश्वासन मिलेगा। यहां के लोग विचित्र, रहन-सहन विचित्र, घर भी विचित्र, घरों में रहने का ढंग भी विचित्र! क्या कहने और क्या करने से यहां शिष्टाचार के नियमों का उल्लंघन होगा, इसकी जानकारी भी बहुत कम थी। तिस पर खाने-पीने का परहेज़; और खाने योग्य आहार सूखा तथा नीरस लगता था। इस कारण मेरी दशा सरौते के बीच सुपारी-जैसी हो गयी। विलायत में रहना मुझे अच्छा नहीं लगता था, और देश को लौटा नहीं जा सकता था। विलायत पहुंच जाने पर तो तीन साल वहां पूरे करने का ही आग्रह था।

: १२ :

मेरी पसन्द

डॉक्टर मेहता सोमवार को मुझसे मिलने विक्टोरिया होटल पहुंचे। वहां उन्हें हमारा नया पता मिला; इससे नई जगह आकर मिले। मेरी मूर्खता के कारण जहाज़ में मुझे दाद हो गई थी। जहाज़ में खारे पानी से नहाना होता था। उसमें साबुन घुलता न था। लेकिन मैंने तो साबुन का उपयोग करने में सभ्यता समझी। इससे शरीर साफ़ होने के बदले चीकट हो गया। उससे दाद हो गई। डॉक्टर को दिखाई। उन्होंने मुझे जलानेवाली दवा--एसेटिक एसिड-- दी। इस दवा ने मुझे रुलाया था। डाक्टर मेहता ने हमारे कमरे वग़ैरा देखे और सिर हिलाया : "यह जगह काम की नहीं। इस देश में आकर पढ़ने की अपेक्षा यहां के जीवन और रीति-रिवाज का अनुभव प्राप्त करना ही अधिक महत्त्व का है। इसके लिये किसी परिवार में रहना ज़रूरी है। पर अभी तो मैंने सोचा है कि तुम्हें कुछ तालीम मिल सके, इसके लिये--के घर रहो। मैं तुम्हें वहां ले जाऊंगा।"

अंग्रेज़ी रीति-रिवाज सीखना

मैंने आभारपूर्वक उनका सुझाव मान लिया। मैं मित्र के घर पहुंचा। उनके स्वागत-सत्कार में कोई कमी नहीं थी। उन्होंने मुझे अपने सगे भाई

की तरह रखा, अंग्रेज़ी रीति-रिवाज सिखाये; यह कह सकता हूं कि अंग्रेज़ी में थोड़ी बातचीत करने की आदत उन्हीं ने डलवाई।

मेरे भोजन का प्रश्न बहुत विकट हो गया। बिना नमक और मसालोंवाली साग-सब्ज़ी रुचती नहीं थी। घर की मालकिन मेरे लिये कुछ बनावे तो क्या बनावे ? सबेरे तो ओटमील की लपसी बनती। उससे पेट कुछ भर जाता। पर दोपहर और शाम को मैं हमेशा भूखा रहता। मित्र मुझे रोज़ मांस खाने के लिये समझाते। मैं प्रतिज्ञा की आड़ लेकर चुप हो जाता। उनकी दलीलों का जवाब देना मेरे बस का न था। दोपहर को सिर्फ़ रोटी, पत्तोंवाली एक भाजी और मुरब्बे पर गुज़र करता था। यही ख़ुराक शाम के लिये भी थी। मैं देखता कि रोटी के तो दो-तीन टुकड़े ही लेने की रीत है। इससे अधिक मांगते शरम लगती थी। मुझे डटकर खाने की आदत थी। भूख तेज़ थी और ख़ूब ख़ुराक चाहती थी। दोपहर या शाम को दूध नहीं मिलता था। मेरी यह हालत देख कर मित्र एक दिन चिढ़ गये और बोले : "अगर तुम मेरे सगे भाई होते, तो मैं तुम्हें निश्चय ही वापस भेज देता। यहां की हालत जाने बिना निरक्षर माता के सामने की गयी प्रतिज्ञा का मूल्य ही क्या ? वह तो प्रतिज्ञा ही नहीं कही जा सकती। मैं तुमसे कहता हूं कि क़ानून इसे प्रतिज्ञा नहीं मानेगा। ऐसी प्रतिज्ञा से चिपटे रहना तो निरा अंधविश्वास कहा जायेगा। और, ऐसे अंधविश्वास में गिरफ़्त रहकर तुम इस देश

से अपने देश में कुछ भी न ले जा सकोगे। तुम तो कहते हो कि तुमने मांस खाया है। तुम्हें वह अच्छा भी लगा है। जहां खाने की ज़रूरत नहीं थी वहां खाया, और जहां खाने की ख़ास ज़रूरत है वहां छोड़ा! यह कैसा आश्चर्य है!"

मैं टस से मस नहीं हुआ।

ऐसी बहस रोज़ हुआ करती। मेरे पास छत्तीस रोगों को मिटानेवाला एक नन्ना ही था। मित्र मुझे जितना समझाते, मेरी दृढ़ता उतनी ही बढ़ती जाती। मैं रोज़ भगवान से रक्षा की याचना करता, और मुझे रक्षा मिलती। मैं नहीं जानता था कि ईश्वर कौन है। पर रम्भा की दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्र ने मेरे सामने बेन्थम का ग्रंथ पढ़ना शुरू किया। उपयोगितावादवाला अध्याय पढ़ा। मैं घबराया। भाषा ऊंची थी। मैं मुश्किल से समझ पाता। उन्होंने उसका विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया:

"मैं आपसे माफ़ी चाहता हूं। मैं ऐसी सूक्ष्म बातें समझ नहीं पाता। मैं स्वीकार करता हूं कि मांस खाना चाहिये, पर मैं अपनी प्रतिज्ञा का बन्धन तोड़ नहीं सकता। उसके लिये मैं कोई दलील नहीं दे सकता। मुझे विश्वास है कि दलील में मैं आपको कभी जीत नहीं सकता। पर मूर्ख समझ कर अथवा हठी समझ कर इस मामले में मुझे छोड़ दीजिये। मैं आपके प्रेम को समझता हूं। आपका आशय समझता हूं। आपको मैं अपना परम हितैषी मानता हूं। मैं यह भी देख रहा

हूं कि आपको दुःख होता है, इसीसे आप इतना आग्रह करते हैं। पर मैं लाचार हूं। मेरी प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।"

मित्र देखते रहे। उन्होंने पुस्तक बंद कर दी। "बस, अब मैं बहस नहीं करूंगा," कहकर चुप हो गये। मैं ख़ुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेरे बारे में उनकी चिन्ता दूर न हुई। वे बीड़ी पीते थे, शराब पीते थे। लेकिन मुझसे कभी नहीं कहा कि इनमें से एक का भी मैं सेवन करूं। उलटे, मना ही करते रहे। उन्हें चिन्ता यह थी कि मांसाहार के अभाव में मैं कमज़ोर हो जाऊंगा और इंग्लैण्ड में निश्चिन्ततापूर्वक रह न सकूंगा।

एक एंग्लो-इण्डियन कुटुम्ब में रहना

इस तरह एक महीने तक मैंने नौसिखुये के रूप में उम्मीदवारी की। मित्र का घर रिच-मण्ड में था, इसलिये मैं हफ़्ते में एक या दो बार ही लन्दन जा पाता था। डॉक्टर मेहता और भाई दलपतराम शुक्ल ने सोचा कि अब मुझे किसी कुटुम्ब में रहना चाहिये। भाई शुक्ल ने वेस्ट केन्सिग्टन में एक एंग्लो-इण्डियन का घर खोज निकाला, और मुझे वहां रखा। घर की मालकिन एक विधवा थी। उससे मैंने मांस-त्याग की बात कही। बुढ़िया ने मेरी सार-संभाल की जिम्मेदारी ली। मैं वहां रहने लगा।

यहां भी मुझे रोज़ भूखा रहना पड़ता था।

मैंने घर से मिठाई वग़ैरा खाने की चीज़ें मंगायी थीं, पर वे अभी आई नहीं थीं। सब कुछ फीका लगता था। बुढ़िया हमेशा पूछती; पर वह करे क्या? तिस पर मैं अभी तक शरमाता था। बुढ़िया के दो लड़कियां थीं। वे आग्रह करके थोड़ी अधिक रोटी देतीं। पर वे बेचारी क्या जानें कि उनकी समूची रोटी खाने पर ही मेरा पेट भर सकता था।

अन्नाहार भोजन-गृह की खोज

लेकिन अब मैं होशियारी पकड़ने लगा था। अभी पढ़ाई शुरू नहीं हुई थी। मुश्किल से समाचारपत्र पढ़ने लगा था। यह भाई शुक्ल का प्रताप था। हिन्दुस्तान में मैंने समाचारपत्र कभी पढ़े नहीं थे। पर बराबर पढ़ते रहने के अभ्यास से उन्हें पढ़ने का शौक़ पैदा कर सका था। 'डेली न्यूज़', 'डेली टेलिग्राफ़' और 'पालमाल गज़ेट', इन पत्रों को सरसरी निगाह से देख जाता था। पर शुरू-शुरू में तो इसमें मुश्किल से एक घंटा ख़र्च होता होगा।

मैंने घूमना शुरू किया। मुझे निरामिष अर्थात् अन्नाहार देनेवाले भोजन-गृह की खोज करनी थी। घर की मालकिन ने भी कहा था कि ख़ास लन्दन में ऐसे गृह मौजूद हैं। मैं रोज़ दस-बारह मील चलता था। किसी मामूली से भोजन-गृह में जाकर पेट भर रोटी खा लेता था। पर उससे संतोष न होता था। इस तरह भटकता हुआ एक दिन मैं फेरिंग्डन स्ट्रीट पहुंचा, और

वहां 'वेजिटेरियन रेस्टरां' (अन्नाहारी भोजनालय) का नाम पढ़ा। मुझे वह आनन्द हुआ, जो बालक को मनचाही चीज़ मिलने से होता है। हर्ष-विभोर होकर अन्दर घुसने से पहले मैंने दरवाज़े के पास की शीशेवाली खिड़की में बिक्री की पुस्तकें देखीं। उनमें मुझे सॉल्ट की 'अन्नाहार की हिमायत' नामक पुस्तक दिखी। एक शिलिंग में वह ख़रीद ली, और फिर भोजन करने बैठा। विलायत आने के बाद यहां पहली बार भरपेट भोजन मिला। ईश्वर ने मेरी भूख मिटाई।

विचार-पूर्वक अन्नाहारी बना

सॉल्ट की पुस्तक पढ़ी। मुझ पर उसकी अच्छी छाप पड़ी। इस पुस्तक को पढ़ने के दिन से मैं स्वेच्छापूर्वक, अर्थात् विचार-पूर्वक अन्नाहार में विश्वास करने लगा। माता के निकट की गई प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनन्द देने लगी। और जिस तरह अब तक यह मानता था कि सब मांसाहारी बनें तो अच्छा हो, और पहले केवल सत्य की रक्षा के लिये तथा बाद में प्रतिज्ञा-पालन के लिये ही मैं मांस-त्याग करता था, और भविष्य में किसी दिन स्वयं आज़ादी से, प्रकट रूप में, मांस खाकर दूसरों को खानेवालों के दल में सम्मिलित करने की उमंग रखता था, उसी तरह अब स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरों को वैसा बनाने का लोभ मुझमें जागा।

: १३ :

'सभ्य' पोशाक में

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन पर दिन बढ़ती गई। सॉल्ट की पुस्तक ने आहार के विषय में अधिक पुस्तकें पढ़ने की मेरी जिज्ञासा को तीव्र बना दिया। जितनी पुस्तक मुझे मिलीं, मैंने ख़रीद लीं और पढ़ डालीं। उनमें हावर्ड विलियम्स की 'आहार-नीति' नामक पुस्तक में अलग-अलग युगों के ज्ञानियों, अवतारों और पैग़म्बरों के आहार का और आहार-विषयक उनके विचारों का वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसा-मसीह इत्यादि को उसने केवल अन्नाहारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। डॉक्टर मिसेज़ एना किंग्सफ़ोर्ड की 'उत्तम आहार की रीति' नामक पुस्तक भी आकर्षक थी। साथ ही, डॉ० एलिन्सन के आरोग्य-विषयक लेखों ने भी इसमें अच्छी मदद की। वे दवा के बदले केवल आहार के हेर-फेर से ही रोगी को नीरोग करने की पद्धति का समर्थन करते थे। डॉ० ऐलिन्सन स्वयं अन्नाहारी थे, और बीमारों को केवल अन्नाहार की ही सलाह देते थे। इन सब पुस्तकों के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि मेरे जीवन में आहार-विषयक प्रयोगों ने महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया। आरंभ में इन प्रयोगों में आरोग्य की दृष्टि मुख्य थी। बाद में धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि बनी।

एक रोचक प्रसङ्ग

इस बीच मेरे उन मित्र को तो मेरी चिन्ता बनी ही रही। उन्होंने प्रेमवश यह माना कि अगर मैं मांस नहीं खाऊंगा, तो कमज़ोर हो जाऊंगा। बल्कि मैं बेवक़ूफ़ बना रहूंगा; क्योंकि अंग्रेज़ों के समाज में घुलमिल ही न सकूंगा। वे जानते थे कि मैं अन्नाहार-विषयक पुस्तकें पढ़ता रहता हूं। उन्हें डर लगा कि इन पुस्तकों के पढ़ने से मैं भ्रमित-चित्त बन जाऊंगा, प्रयोगों में मेरा जीवन व्यर्थ चला जायेगा, मुझे जो करना है उसे भूल जाऊंगा और 'पोथी-पंडित' बन बैठूंगा। इस विचार से उन्होंने मुझे सुधारने का एक आख़िरी प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे नाटक दिखाने के लिये न्योता। वहां जाने से पहले मुझे उनके साथ होलबर्न भोजन-गृह में भोजन करना था। मेरी दृष्टि में यह गृह एक महल था। विक्टोरिया होटल छोड़ने के बाद ऐसे गृह में जाने का मेरा यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटल का अनुभव तो निकम्मा था; क्योंकि मानना होगा कि वहां मैं बेहोशी की हालत में था। सैकड़ों के बीच हम दो मित्र एक मेज़ के सामने बैठे। मित्र ने पहली 'प्लेट' मंगायी। वह 'सूप' की थी। मैं परेशान हुआ। मित्र से क्या पूछता ? मैंने तो परोसनेवाले को अपने पास बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर मुझसे पूछा :

"क्या है?"

मैंने धीरे से संकोच-पूर्वक कहा :

"मैं जानना चाहता हूं कि इसमें मांस है या नहीं ?"

"ऐसे गृह में यह जंगलीपन नहीं चल सकता। अगर तुम्हें अब भी यही किच-किच करनी हो, तो तुम बाहर जाकर किसी छोटे से भोजन-गृह में खा लो और बाहर ही मेरी राह देखो।"

मैं इस प्रस्ताव से ख़ुश होकर उठा, और दूसरे भोजनालय की खोज में निकला। पास ही एक अन्नाहारवाला भोजन-गृह था। पर वह तो बन्द हो चुका था। मुझे समझ न पड़ा कि अब क्या करना चाहिये। मैं भूखा रहा। हम नाटक देखने गये। मित्र ने उक्त घटना के बारे में एक भी शब्द मुंह से न निकाला। मेरे पास तो कहने को था ही क्या ?

लेकिन यह हमारे बीच का अन्तिम मित्र-युद्ध था। न हमारा सम्बन्ध टूटा, न उसमें कटुता आयी। उनके सारे प्रयत्नों के मूल में रहे हुए प्रेम को मैं पहचान सका था। इस कारण विचार और आचार की भिन्नता के रहते हुए भी उनके प्रति मेरा आदर बढ़ गया।

पर मैंने सोचा कि मुझे उनका डर दूर करना चाहिये। मैंने निश्चय किया कि मैं जंगली नहीं रहूंगा। सभ्य के लक्षण ग्रहण करूंगा, और दूसरे प्रकार से समाज में समरस होने योग्य बनकर अन्नाहार की अपनी विचित्रता को छिपा लूंगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखने के लिये अपनी सामर्थ्य से परे का और छिछला रास्ता पकड़ा।

पोशाक के रंग ढंग में परिवर्तन

विलायती होने पर भी बम्बई के कटे-सिले कपड़े अच्छे अंग्रेज़ समाज में शोभा न देंगे, इस विचार से मैंने 'आर्मी और नेवी' स्टोर में कपड़े सिलवाये। उन्नीस शिलिंग की (उस ज़माने के लिहाज़ से तो यह क़ीमत बहुत ही कही जायेगी) 'चिमनी' टोपी सिर पर पहनी। इतने से संतोष न हुआ तो बॉण्ड स्ट्रीट में, जहां शौक़ीन लोगों के कपड़े सिलते थे, दस पौण्ड पर बत्ती रखकर शाम की पोशाक सिलवायी। भोले और बादशाही दिलवाले बड़े भाई से दोनों जेबों में लटकाने लायक़ सोने की एक बढ़िया चेन मंगवायी, और वह मिल भी गयी। बंधी-बंधायी टाई पहनना शिष्टाचार में शुमार न था, इसलिये टाई बांधने की कला हस्तगत की। देश में आईना हजामत के दिन ही देखने को मिलता था, पर यहां तो बड़े आईने के सामने खड़े रहकर ठीक से टाई बांधने में और बालों में पट्टी डालकर सीधी मांग निकालने में रोज़ लगभग दस मिनट तो बरबाद होते ही थे। बाल मुलायम नहीं थे, इसलिये उन्हें अच्छी तरह मुड़े हुए रखने के लिये ब्रश (झाड़ू ही समझिये) के साथ रोज़ लड़ाई चलती थी। और, टोपी पहनते तथा निकालते समय हाथ तो मानो मांग को सहेजने के लिये सिर पर पहुंच ही जाता था। और बीच-बीच में, समाज में बैठे-बठे, मांग पर हाथ फिरा कर बालों को व्यवस्थित रखने की एक और सभ्य क्रिया बराबर चलती ही रहती थी।

मेरा नृत्य सीखना

पर इतनी टीमटाम ही काफ़ी न थी। अकेली सभ्य पोशाक से सभ्य थोड़े ही बना जा सकता था? मैंने सभ्यता के दूसरे कई बाहरी गुण भी जान लिये थे और मैं उन्हें सीखना चाहता था। सभ्य पुरुष को नाचना जानना चाहिये। उसे फ़्रेंच अच्छी तरह जान लेनी चाहिये; क्योंकि फ़्रेंच इंग्लैंड के पड़ोसी फ़्रांस की भाषा थी, और सारे यूरोप की राष्ट्रभाषा भी थी। और, मुझे यूरोप में घूमने की इच्छा थी। इसके अलावा, सभ्य पुरुष को लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिये। मैंने नृत्य सीखने का निश्चय किया। एक कक्षा में भरती हुआ। एक सत्र के करीब तीन पौण्ड जमा किये। कोई तीन हफ़्तों में क़रीब छः सबक़ सीखे होंगे। पर ठीक से ताल-बद्ध पड़ते न थे। पियानो बजता था, पर वह क्या कह रहा है, कुछ समझ में न आता था। 'एक, दो, तीन' चलता, पर उसके बीच का अन्तर तो वह बाजा ही बताता था, जो मेरे लिये अगम्य था। तो अब क्या किया जाये? अब तो बाबाजी की बिल्लीवाला क़िस्सा हुआ। चूहों को भगाने के लिये बिल्ली, बिल्ली के लिये गाय, यों बाबाजी का परिवार बढ़ा; उसी तरह मेरे लोभ का परिवार भी बढ़ा। वायोलिन बजाना सीख लूं, तो सुर और ताल का ख़्याल हो जाय। तीन पौण्ड वायोलिन ख़रीदने में गंवाये और कुछ उसकी शिक्षा के लिये भी दिये! भाषण करना सीखने के लिये एक तीसरे शिक्षक का घर खोजा। उन्हें भी एक गिन्नी तो भेंट की ही। बेल की 'स्टैण्डर्ड एलोक्युश-

निस्ट' पुस्तक ख़रीदी। पिट का एक भाषण शुरू किया।

इन बेल साहब ने मेरे कान में घंटी (बेल) बजायी। मैं जागा।

मेरी मूढ़ता का अन्त

मुझे कौन इंग्लैंड में जीवन बिताना है? लच्छेदार भाषण करना सीख कर मैं क्या करूंगा! नाच-नाच कर मैं सभ्य कैसे बनूंगा? वायोलिन तो देश में भी सीखा जा सकता है। मैं तो विद्यार्थी हूं। मुझे विद्या-धन बढ़ाना चाहिये। मुझे अपने पेशे से सम्बन्ध रखने वाली तैयारी करनी चाहिये। मैं अपने सदाचार से सभ्य समझा जाऊं तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ना चाहिये।

इन विचारों की धुन में मैंने उपर्युक्त आशय के उद्गारोंवाला पत्र भाषण-शिक्षक को भेज दिया। उनसे मैंने दो या तीन ही पाठ पढ़े थे। नृत्य-शिक्षिका को भी ऐसा ही पत्र लिखा। वायोलिन-शिक्षिका के घर वायोलिन लेकर पहुंचा। उन्हें जिस दाम भी वह बिके, बेच डालने की इजाज़त दे दी। उनके साथ कुछ मित्रता का-सा सम्बन्ध हो गया था। इस कारण मैंने उनसे अपने मोह की चर्चा की। नाच आदि के जंजाल में से निकल जाने की मेरी बात उन्होंने पसन्द की।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक लगभग तीन महीने चली होगी। पोशाक की टीमटाम तो बरसों चली। पर अब मैं विद्यार्थी बना।

: १४ :

फेरफार

कोई यह न माने कि नाच आदि के मेरे प्रयोग उस समय की मेरी स्वच्छन्दता के सूचक हैं। पाठकों ने देखा होगा कि उनमें कुछ समझदारी थी। मोह के इस समय में भी मैं एक हद तक सावधान था। पाई-पाई का हिसाब रखता था। ख़र्च का अंदाज़ रखता था। मैंने हर महीने पन्द्रह पौण्ड से अधिक ख़र्च न करने का निश्चय किया था। मोटर में आने-जाने का अथवा डाक का ख़र्च भी हमेशा लिखता था, और सोने से पहले हमेशा अपनी रोकड़ मिला लेता था। यह आदत अन्त तक बनी रही। और, मैं जानता हूं कि इससे सार्वजनिक जीवन में मेरे हाथों लाखों रुपयों का जो उलट-फेर हुआ है, उसमें मैं उचित किफ़ायत-शारी से काम ले सका हूं। और आगे मेरी देख-रेख में जितने आन्दोलन चले, उनमें मैंने कभी क़र्ज़ नहीं किया, बल्कि हर एक में कुछ न कुछ बचत ही रही। यदि हरएक नवयुवक उसे मिलने वाले थोड़े रुपयों का भी हिसाब ख़बरदारी के साथ रखेगा, तो उसका लाभ वह भी उसी तरह अनुभव करेगा, जिस तरह भविष्य में मैंने और जनता ने किया।

मैंने अपना ख़र्च घटाया

अपनी रहन-सहन पर मेरा अंकुश था, इस

कारण मैं देख सका कि मुझे कितना ख़र्च करना चाहिये। अब मैंने ख़र्च आधा कर डालने का निश्चय किया। हिसाब जांचने से पता चला कि गाड़ी-भाड़े का मेरा ख़र्च काफ़ी होता था। फिर कुटुम्ब में रहने से हर हफ़्ते कुछ ख़र्च तो होता ही था। किसी दिन कुटुम्ब के लोगों को बाहर भोजन के लिये ले जाने का शिष्टाचार बरतना ज़रूरी था। कभी उनके साथ दावत में जाना पड़ता, तो गाड़ी-भाड़े का ख़र्च लग ही जाता था। कोई लड़की साथ हो, तो उसका ख़र्च चुकाना ज़रूरी हो जाता था। जब बाहर जाता, तो खाने के लिये घर न पहुंच पाता। वहां तो पैसे पहले से ही चुकाये रहते, और बाहर खाने के पैसे और चुकाने पड़ते। मैंने देखा कि इस तरह के ख़र्चों से बचा जा सकता है। महज़ शरम की वजह से होने वाले ख़र्चों से बचने की बात भी समझ में आयी।

अब तक मैं कुटुम्बों में रहता था, उसके बदले अपना ही कमरा लेकर रहने का निश्चय किया, और यह भी तय किया कि काम के अनुसार और अनुभव प्राप्त करने के लिये अलग-अलग मुहल्लों में घर बदलता रहूंगा। घर मैंने ऐसी जगह पसन्द किये कि जहां से काम की जगह पर आधे घंटे में पैदल पहुंचा जा सके, और गाड़ी-भाड़ा बचे। इससे पहले जहां जाना होता वहां का गाड़ी-भाड़ा हमेशा चुकाना पड़ता, और घूमने के लिये अलग से समय निकालना पड़ता था। अब काम पर जाते हुए ही घूमने की व्यवस्था जम गयी, और इस व्यवस्था के कारण मैं रोज़ आठ-दस मील तो

आसानी से घूम लेता था। ख़ासकर इस एक आदत के कारण मैं विलायत में शायद ही कभी बीमार पड़ा होऊंगा। मेरा शरीर काफ़ी कस गया। कुटुम्ब में रहना छोड़ कर मैंने दो कमरे किराये पर लिये। एक सोने के लिये और दूसरा बैठक के रूप में। यह फेरफार की दूसरी मंज़िल कही जा सकती है। तीसरा फेरफार अभी होना शेष था।

लेटिन और फ़्रेंच सीखना शुरू किया

इस तरह आधा ख़र्च बचा। लेकिन समय का क्या हो? मैं जानता था कि बारिस्टर की परीक्षा के लिये बहुत पढ़ना ज़रूरी नहीं है; इसलिये मुझे बेफ़िकरी थी। पर मेरी कच्ची अंग्रेज़ी मुझे दुःख देती थी। लेली साहब के शब्द—'तुम बी० ए० हो जाओ, फिर आना'—मुझे चुभते थे। मैंने सोचा मुझे बारिस्टर बनने के अलावा कुछ और भी पढ़ना चाहिये। ऑक्सफ़र्ड केम्ब्रिज की पढ़ाई का पता लगाया। कई मित्रों से मिला। मैंने देखा कि वहां जाने से ख़र्च बहुत बढ़ जायेगा और पढ़ाई लम्बी चलेगी। मैं तीन साल से अधिक रह नहीं सकता था। किसी मित्र ने कहा, "अगर तुम्हें कोई कठिन परीक्षा ही देनी हो, तो तुम लन्दन की मैट्रिक्युलेशन पास कर लो। उसमें मेहनत काफ़ी करनी पड़ेगी, और साधारण ज्ञान बढ़ेगा। ख़र्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा।" मुझे यह सुझाव अच्छा लगा। पर परीक्षा के विषय देखकर मैं चौंका। लेटिन और दूसरी एक भाषा अनिवार्य थी! लेटिन कैसे सीखी जाय? पर मित्र ने सुझाया:

"वकील के लिये लेटिन बहुत उपयोगी है। लेटिन जानने वाले के लिये क़ानूनी किताब समझना आसान हो जाता है, और 'रोमन लॉ' की परीक्षा में एक प्रश्न-पत्र तो केवल लेटिन भाषा में ही होता है। इसके सिवा, लेटिन जानने से अंग्रेज़ी भाषा पर प्रभुत्व बढ़ता है।" इन सब दलीलों का मुझ पर असर हुआ। मैंने सोचा, मुश्किल हो चाहे न हो, पर लेटिन तो सीख ही लेनी है। फ़्रेंच की शुरू की हुई पढ़ाई को पूरा करना है। इसलिये निश्चय किया कि दूसरी भाषा फ़्रेंच हो। मैट्रिक्युलेशन का एक प्राइव्हेट वर्ग चलता था। उसमें भरती हो गया। हर छठे महीने परीक्षा होती थी। मेरे पास मुश्किल से पांच महीने का समय था। यह काम मेरे बूते के बाहर था। परिणाम यह हुआ कि सभ्य बनने की जगह मैं अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। समय-पत्रक बनाया। एक-एक मिनट का उपयोग किया। पर मेरी बुद्धि या स्मरण शक्ति ऐसी नहीं थी कि दूसरे विषयों के अतिरिक्त लेटिन और फ़्रेंच की तैयारी कर सकूं। परीक्षा में बैठा। लेटिन में फ़ेल हो गया। दुःख तो हुआ, पर हिम्मत नहीं हारा। लेटिन में रुचि पैदा हो गयी थी। मैंने सोचा कि दूसरी बार परीक्षा में बैठने से फ़्रेंच अधिक अच्छी हो जायेगी और विज्ञान में नया विषय ले लूंगा। प्रयोगों के अभाव में रसायनशास्त्र मुझे रुचता ही न था। यद्यपि अब देखता हूं कि उसमें ख़ूब रस आना चाहिये था। देश में तो यह विषय सीखा ही था, इसलिये लन्दन की मैट्रिक के लिये भी पहली बार

इसी को पसन्द किया था। इस बार प्रकाश और उष्णता (Light और Heat) का विषय लिया। यह विषय आसान माना जाता था। मुझे भी आसान प्रतीत हुआ।

सादगी का जीवन

पुनः परीक्षा देने की तैयारी के साथ ही रहन-सहन में अधिक सादगी लाने का प्रयत्न शुरू किया। मैंने अनुभव किया कि अभी मेरे कुटुम्ब की ग़रीबी के अनुरूप मेरा जीवन सादा नहीं बना है। भाई की तंगी के और उनकी उदारता के विचारों ने मुझे व्याकुल बना दिया। जो लोग हर महीने १५ पौण्ड या ८ पौण्ड ख़र्च करते थे, उन्हें तो छात्रवृत्तियां मिलती थीं। मैं देखता था कि मुझसे भी अधिक सादगी से रहने वाले लोग हैं। मैं ऐसे ग़रीब विद्यार्थियों के संपर्क में ठीक-ठीक आया था। एक विद्यार्थी लन्दन की ग़रीब बस्ती में हफ़्ते के दो शिलिंग देकर एक कोठरी में रहता था, और लाकहार्ट की कोको की सस्ती दुकान में दो पेनी का कोको और रोटी खाकर अपना गुज़ारा करता था उससे स्पर्धा करने की तो मेरी शक्ति नहीं थी, पर मैंने अनुभव किया कि मैं अवश्य ही दो के बदले एक कमरे में रह सकता हूं, और आधी रसोई अपने हाथ से भी बना सकता हूं। इस प्रकार मैं हर महीने चार या पांच पौण्ड में अपना निर्वाह कर सकता हूं। सादी रहन-सहन पर पुस्तकें भी पढ़ चुका था। दो कमरे छोड़ दिये और हफ़्ते के आठ शिलिंग पर एक कमरा किराये से लिया। एक

अंगीठी ख़रीदी और सुबह का भोजन हाथ से बनाना शुरू किया। इसमें मुश्किल से बीस मिनट ख़र्च होते थे। ओटमील की लपसी बनाने और कोको के लिये पानी उबालने में कितना समय लगता? दोपहर का भोजन बाहर कर लेता, और शाम को फिर कोको बनाकर रोटी के साथ खा लेता। इस तरह मैं एक से सवा शिलिंग के अन्दर रोज़ के अपने भोजन की व्यवस्था करना सीख गया। यह मेरा अधिक से अधिक पढ़ाई का समय था। जीवन सादा बन जाने से समय अधिक बचा। दूसरी बार परीक्षा में बैठा और पास हुआ।

पर पाठक यह न माने कि सादगी से मेरा जीवन नीरस बना होगा। उलटे, इन फेरफारों के कारण मेरी आन्तरिक और बाह्य स्थिति के बीच एकता पैदा हुई, कौटुम्बिक स्थिति के साथ मेरी रहन-सहन का मेल बैठा, जीवन अधिक सारमय बना, और मेरे आत्मानन्द का पार न रहा।

: १५ :

ख़ुराक के प्रयोग

जैसे-जैसे मैं जीवन की गहराई में उतरता गया, वैसे-वैसे मुझे बाहर और भीतर के आचरण में फेरफार करने की ज़रूरत मालूम होती गयी। जिस गति से रहन-सहन और ख़र्च में फेरफार हुए, उसी गति से अथवा उससे भी अधिक वेग से

मैंने ख़ुराक में फेरफार करना शुरू किया। मैंने देखा कि अन्नाहार-विषयक अंग्रेज़ी पुस्तकों में लेखकों ने बहुत सूक्ष्मता से विचार किया था। उन्होंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक दृष्टि से अन्नाहार की छानबीन की थी। नैतिक दृष्टि से उन्होंने यह सोचा था कि मनुष्य को पशु-पक्षियों पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ है, वह उन्हें मार कर खाने के लिये नहीं, बल्कि उनकी रक्षा के लिये है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरे का उपयोग करते हैं, पर एक-दूसरे को खाते नहीं, उसी प्रकार पशु-पक्षी भी उपयोग के लिये हैं, खाने के लिये नहीं। और, उन्होंने देखा कि खाना भोग के लिये नहीं, बल्कि जीने के लिये ही है। इस कारण कइयों ने आहार में मांस का ही नहीं, बल्कि अंडों और दूध का भी त्याग सुझाया और किया। विज्ञान की दृष्टि से और मनुष्य की शरीर-रचना को देखकर कई लोग इस परिणाम पर पहुंचे कि मनुष्य को भोजन पकाने की आवश्यकता ही नहीं है; वह वनपक्वता फल ही खाने के लिये पैदा किया गया है। दूध उसे केवल माता का ही पीना चाहिये। दांत निकलने के बाद उसको चबा सकने योग्य ख़ुराक ही लेनी चाहिये। वैद्यक दृष्टि से उन्होंने मिर्च-मसालों का त्याग सुझाया और व्यावहारिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उन्होंने बताया कि कम-से-कम ख़र्चवाली ख़ुराक अन्नाहार ही हो सकती है। मुझ पर इन चारों दृष्टियों का प्रभाव पड़ा, और अन्नाहार देनेवाले भोजन-गृहों में मैं चारों दृष्टिवाले व्यक्तियों से मिलने लगा।

विलायत में इनका एक मण्डल था, और एक साप्ताहिक भी निकलता था। मैं साप्ताहिक का ग्राहक बना और मण्डल का सदस्य। कुछ ही समय में मुझे उसकी कमेटी में ले लिया गया। यहां मेरा परिचय ऐसे लोगों से हुआ, जो अन्नाहारियों में स्तंभरूप माने जाते थे। मैं प्रयोगों में व्यस्त हो गया।

मिठाई, मसाले, चाय और काफ़ी लेना बन्द किया

घर से मिठायी-मसाले वग़ैरह जो मंगाये थे, सो लेने बन्द कर दिये, और मन ने दूसरा मोड़ पकड़ा। इस कारण मसालों का प्रेम कम पड़ गया, और जो सब्ज़ी रिचमंड में मसाले के अभाव में बेस्वाद मालूम होती थी, वह अब सिर्फ़ उबाली हुई स्वादिष्ट लगने लगी। ऐसे अनेक अनुभवों से मैं यह सीखा कि स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं, पर मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उन दिनों एक पंथ ऐसा था, जो चाय-कॉफ़ी को हानिकारक मानता था, और कोको का समर्थन करता था। मैं यह समझ चुका था कि केवल उन्हीं वस्तुओं का सेवन करना योग्य है, जो शरीर-व्यापार के लिए आवश्यक हैं। इस कारण मुख्यतः मैंने चाय और कॉफ़ी का त्याग किया और कोको को अपनाया।

भोजन-गृह के दो विभाग थे। एक में जितने पदार्थ खाओ उतने पैसे देने होते थे। इसमें एक बार में शिलिंग दो शिलिंग का भी ख़र्च हो जाता

था। इस विभाग में अच्छी स्थिति के लोग जाते थे। दूसरे विभाग में छः पेनी में तीन पदार्थ और डबल रोटी का एक टुकड़ा मिलता था। जिन दिनों मैंने खूब किफ़ायतशारी शुरू की थी, उन दिनों में अकसर छः पेनीवाले विभाग में ही जाता था।

ऊपर के प्रयोगों के साथ उप-प्रयोग तो बहुत हुए। कभी स्टार्चवाला आहार छोड़ा, कभी सिर्फ़ रोटी और फल पर ही रहा, और कभी पनीर, दूध और अण्डों का ही सेवन किया।

यह आख़िरी प्रयोग उल्लेखनीय है। यह पन्द्रह दिन भी नहीं चला। स्टार्च-रहित आहार का समर्थन करनेवाले ने अण्डों की खूब स्तुति की थी, और यह सिद्ध किया था कि अण्डे मांस नहीं हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि अण्डे खाने में किसी जीवित प्राणी को दुःख नहीं पहुंचता। इस दलील के भुलावे में आकर मैंने माताजी के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा के रहते भी अण्डे खाये, पर मेरा वह मोह क्षणिक प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे अधिकार न था। अर्थ तो प्रतिज्ञा करानेवाले का ही माना जा सकता था। मांस न खाने की प्रतिज्ञा करानेवाली माता को अण्डों का तो ख़्याल ही नहीं हो सकता था, इसे मैं जानता था। इस कारण प्रतिज्ञा के रहस्य का बोध होते ही मैंने अण्डे छोड़े और प्रयोग भी छोड़ा।

मांस के तीन व्याख्यायें

यह एक सूक्ष्म रहस्य है और ध्यान में रखने

योग्य है। विलायत में मैंने मांस की तीन व्याख्यायें पढ़ी थीं। एक के अनुसार मांस का अर्थ पशु-पक्षी का मांस था। अतएव ये व्याख्याकार उसका त्याग करते थे, पर मछली खाते थे; अण्डे तो खाते ही थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार साधारण मनुष्य जिसे जीव के रूप में जानता है, उसका त्याग किया जाता था। इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, पर अण्डे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्या में साधारण-तया जितने भी जीव माने जाते हैं, उनके और उनसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के त्याग की बात थी। इस व्याख्या के अनुसार अण्डों का और दूध का भी त्याग बन्धनकारक था। यदि मैं इनमें से पहली व्याख्या को मानता, तो मछली भी खा सकता था। पर मैं समझ गया था कि मेरे लिये तो माताजी की व्याख्या ही बन्धनकारक है। अत-एव यदि मुझे उनके सम्मुख ली गई प्रतिज्ञा का पालन करना हो, तो अण्डे खाने ही न चाहिये। इस कारण मैंने अण्डों का त्याग किया। पर मेरे लिये यह बहुत कठिन हो गया। क्योंकि बारीकी से पूछताछ करने पर पता चला कि अन्नाहारवाले भोजन-गृह में भी अण्डोंवाली बहुत चीज़ें बनती थीं। तात्पर्य यह कि वहां भी भाग्यवश मुझे तब तक परोसनेवालों से पूछताछ करनी पड़ी थी, जब तक कि मैं अच्छा जानकार न हो गया। क्योंकि कई तरह के 'पुडिंग' में और कई तरह की 'केक' में तो अण्डे होते ही थे। इस कारण एक तरह से तो मैं जंजाल से छूटा, क्योंकि थोड़ी और बिल-कुल सादी चीजें ही ले सकता था। दूसरी तरफ़

थोड़ा आघात भी लगा, क्योंकि जीभ से लगी हुई चीज़ों का त्याग करना पड़ा था। पर वह आघात क्षणिक था। प्रतिज्ञापालन का स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद उस क्षणिक स्वाद की तुलना में मुझे अधिक प्रिय लगा।

पर सच्ची परीक्षा तो आगे होनेवाली थी, और वह एक दूसरे व्रत के निमित्त से। जिसे राम रखे, उसे कौन चखे ?

प्रतिज्ञा के अर्थ

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले प्रतिज्ञा के अर्थ के विषय में कुछ कहना ज़रूरी है। मेरी प्रतिज्ञा माता के सम्मुख किया हुआ एक क़रार था। दुनिया में बहुत से झगड़े केवल क़रार के अर्थ के कारण उत्पन्न होते हैं। इक़रारनामा कितनी ही स्पष्ट भाषा में क्यों न लिखा जाये, तो भी भाषा-शास्त्री 'राई को पर्वत' कर देंगे। इसमें सभ्य-असभ्य का भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अन्धा बना देता है। राजा से लेकर रंक तक सभी लोग क़रारों के अपने को अच्छे लगनेवाले अर्थ करके दुनिया को, ख़ुद को और भगवान् को धोखा देते हैं। इस प्रकार पक्षकार लोग जिस शब्द अथवा वाक्य का अपने अनुकूल पड़नेवाला अर्थ करते हैं, न्यायशास्त्र में उसे द्वि-अर्थी मध्यमपद कहा गया है। सुवर्ण न्याय तो यह है कि विपक्ष ने हमारी बात का जो अर्थ माना हो, वही सच माना जाये; हमारे मन में जो हो वह खोटा अथवा अधूरा है। और ऐसा ही दूसरा सुवर्ण न्याय यह है कि जहां

दो अर्थ हो सकते हों, वहां दुर्बल पक्ष जो अर्थ करे, वही सच माना जाना चाहिये। इन दो सुवर्ण मार्गों का त्याग होने से ही अकसर झगड़े होते हैं, और अधर्म चलता है। और, इस अन्याय की जड़ असत्य है। जिसे सत्य के ही मार्ग पर जाना है, उसे सुवर्ण मार्ग सहज भाव से मिल जाता है। उसे शास्त्र नहीं खोजने पड़ते। माता ने 'मांस' शब्द का जो अर्थ माना और जिसे मैं उस समय समझा, वही मेरे लिये सच्चा था। वह अर्थ नहीं जिसे मैं अपने अधिक अनुभव से या अपनी विद्वत्ता के मद में सीखा-समझा था।

इस समय तक के मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे। विलायत में उन्होंने धार्मिक स्वरूप ग्रहण नहीं किया था। धार्मिक दृष्टि से मेरे कठिन प्रयोग दक्षिण अफ्रीका में हुए, जिनकी छान-बीन आगे करनी होगी। पर कहा जा सकता है कि उनका बीज विलायत में बोया गया था।

अन्नाहार—एक नया धर्म

जो आदमी नया धर्म स्वीकार करता है, उसमें उस धर्म के प्रचार का जोश उस धर्म में जन्म हुए लोगों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। विलायत में तो अन्नाहार एक नया धर्म ही था, और मेरे लिये भी वह वैसा ही माना जायगा, क्योंकि बुद्धि से तो मैं मांसाहार का हिमायती बनने के बाद ही विलायत गया था। अन्नाहार की नीति को ज्ञानपूर्वक तो मैंने विलायत में ही अपनाया था।

अतएव मेरी स्थिति नये धर्म में प्रवेश करने-जैसी बन गयी थी, और मुझ में नवधर्मी का जोश आ गया था। इस कारण उस समय मैं जिस बस्ती में रहता था, उसमें मैंने अन्नाहारी मण्डल की स्थापना करने का निश्चय किया। इस बस्ती का नाम बेज़वॉटर था। इसमें सर ऐडविन आर्नोल्ड रहते थे। मैंने उन्हें उपसभापति बनने को निमंत्रित किया। वे बने। डॉ० ओल्डफ़ील्ड सभापति बने। मैं मंत्री बना। यह संस्था कुछ समय तक तो अच्छी चली; पर कुछ महीनों के बाद इसका अन्त हो गया। क्योंकि मैंने अमुक मुद्दत के बाद अपने रिवाज के अनुसार वह बस्ती छोड़ दी। पर इस छोटे और अल्प अवधि के अनुभव से मुझे संस्थाओं का निर्माण करने और उन्हें चलाने का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

: १६ :

लज्जाशीलता—मेरी ढाल

अन्नाहारी मण्डल की कार्यकारिणी में मुझे चुन तो लिया गया था, और उसमें मैं हर बार हाज़िर भी रहता था, पर बोलने के लिये जीभ खुलती ही न थी। डॉ० ओल्डफ़ील्ड मुझसे कहते: "मेरे साथ तो तुम काफ़ी बात कर लेते हो, पर समिति की बैठक में कभी जीभ ही नहीं खोलते। तुम्हें नर-मक्खी की उपमा दी जानी चाहिये।" मैं इस

विनोद को समझ गया। मक्खियां निरन्तर उद्यमी रहती हैं, पर नर-मक्खी बराबर खाती-पीती रहती है, और काम बिलकुल नहीं करती। यह बड़ी अजीब बात थी कि जब दूसरे सब समिति में अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करते, तब मैं गूंगा बनकर ही बैठा रहता था। मुझे बोलने की इच्छा न होती हो सो बात नहीं, पर बोलता क्या? मुझे सब सदस्य अपने से अधिक जानकार मालूम होते थे। फिर किसी विषय में बोलने की ज़रूरत मालूम होती, और मैं कुछ कहने की हिम्मत करने जाता, इतने में दूसरा विषय छिड़ जाता।

यह चीज़ बहुत समय तक चली। इस बीच समिति में एक गंभीर विषय उपस्थित हुआ। उसमें भाग न लेना मुझे अन्याय होने देने जैसा लगा। गूंगे की तरह मत देकर शान्त रहने में नामर्दगी मालूम हुई। 'टेम्स आयर्न वर्क्स' के मालिक मि० हिल्स मण्डल के सभापति थे। वे नीति के कट्टर हिमायती थे। कहा जा सकता है कि मण्डल उनके पैसे से चल रहा था। समिति के कई सदस्य तो उनके ही आसरे निभ रहे थे। इस समिति में डॉ० ऐलिन्सन भी थे। उन दिनों सन्तानोत्पत्ति पर कृत्रिम उपायों से अंकुश रखने का आन्दोलन चल रहा था। डॉ० ऐलिन्सन उन उपायों के समर्थक थे और मज़दूरों में उनका प्रचार करते थे। मि० हिल्स को ये उपाय नीति-नाशक प्रतीत हुए। उनके विचार में अन्नाहारी मण्डल केवल आहार के ही सुधार के लिये नहीं था, बल्कि वह एक नीति-वर्धक मण्डल भी था। इसलिये उनकी राय थी

कि डॉ० ऐलिन्सन के समान समाज-घातक विचार रखनेवाले लोग उस मण्डल में नहीं रहने चाहिये। इसलिये डॉ० ऐलिन्सन को समिति से हटाने का एक प्रस्ताव आया। मैं इस चर्चा में दिलचस्पी रखता था। डॉ० एलिन्सन के कृत्रिम उपायों-सम्बन्धी विचार मुझे भयंकर मालूम हुए थे। उनके ख़िलाफ़ मि० हिल्स के विरोध को मैं शुद्ध नीति मानता था। मेरे मन में उनके प्रति बड़ा आदर था। उनकी उदारता के प्रति भी आदरभाव था। पर एक अन्नाहार-संवर्धक मण्डल में से शुद्ध नीति के नियमों को न माननेवाले का, उसकी अश्रद्धा के कारण बहिष्कार किया जाय, इसमें मुझे साफ़ अन्याय दिखाई दिया। मेरा ख़्याल था कि अन्नाहारी मण्डल के स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध-विषयक मि० हिल्स के विचार उनके अपने विचार थे। मण्डल के सिद्धान्त के साथ उनका कोई सम्बन्ध न था। मण्डल का उद्देश्य केवल अन्नाहार का प्रचार करना था, दूसरी नीति का नहीं। इसलिये मेरी यह राय थी कि दूसरी अनेक नीतियों का अनादर करनेवाले के लिये भी अन्नाहारी मण्डल में स्थान हो सकता है।

पराजित पक्ष में

समिति में मेरे विचार के दूसरे सदस्य भी थे। पर मुझे अपने विचार व्यक्त करने का जोश चढ़ा था। उन्हें कैसे व्यक्त किया जाये, यह एक महान प्रश्न बन गया। मुझमें बोलने की हिम्मत नहीं थी, इसलिये मैंने अपने विचार लिखकर सभापति

के सम्मुख रखने का निश्चय किया। मैं अपना लेख ले गया। जैसा कि मुझे याद है, मैं उसे पढ़ जाने की हिम्मत भी नहीं कर सका। सभापतिजी ने उसे दूसरे सदस्य से पढ़वाया। डॉ० एलिन्सन का पक्ष हार गया। अतएव इस प्रकार के अपने इस पहले युद्ध में मैं पराजित पक्ष में रहा। पर चूंकि मैं उस पक्ष को सच्चा मानता था, इसलिये मुझे सम्पूर्ण संतोष रहा। मेरा कुछ ऐसा ख़्याल है कि उसके बाद मैंने समिति से इस्तीफ़ा दे दिया था।

मेरी लज्जाशीलता विलायत में अन्त तक बनी रही। किसी से मिलने जाने पर भी, जहां पांच-सात मनुष्यों की मण्डली इकट्ठा होती, वहां मैं गूंगा बन जाता था।

एक बार मैं वेटनर गया था। वहां मजमुदार भी थे। वहां के एक अन्नाहारी घर में हम दोनों रहते थे। 'एथिक्स ऑफ़ डायेट' के लेखक इसी बन्दरगाह में रहते थे। हम उनसे मिले। वहां अन्नाहार को प्रोत्साहन देने के लिये एक सभा की गई। उसमें हम दोनों को बोलने का निमंत्रण मिला। दोनों ने उसे स्वीकार किया। मैंने जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढ़ने में कोई दोष नहीं माना जाता। मैं देखता था कि अपने विचारों को सिलसिले से और संक्षेप में प्रकट करने के लिये बहुत से लोग लिखा हुआ पढ़ते थे। मैंने अपना भाषण लिख लिया। बोलने की हिम्मत नहीं थी। जब मैं पढ़ने खड़ा हुआ, तो पढ़ न सका। आंखों के सामने अँधेरा छा गया और हाथ-पैर कांपने लगे।

मेरा भाषण मुश्किल से फुलस्केप का एक पृष्ठ रहा होगा। मजमुदार ने उसे पढ़कर सुनाया। मजमुदार का भाषण तो अच्छा हुआ। श्रोतागण उनकी बातों का स्वागत तालियों की गड़गड़ाहट से करते थे। मैं शरमाया और बोलने की अपनी असमर्थता के लिये दुःखी हुआ।

अपने को विनोद का पात्र बनाया

विलायत में सार्वजनिक रूप से बोलने का अंतिम प्रयत्न मुझे विलायत छोड़ते समय करना पड़ा था। विलायत छोड़ने से पहले मैंने अन्नाहारी मित्रों को हालबार्न भोजन-गृह में भोज के लिये निमंत्रित किया था। मैंने सोचा कि अन्नाहारी भोजन-गृहों में तो अन्नाहार मिलता ही है, पर जिस भोजन-गृह में मांसाहार बनता हो वहां अन्नाहार का प्रवेश हो तो अच्छा। यह विचार करके मैंने इस गृह के व्यवस्थापक के साथ विशेष प्रबन्ध करके वहां भोज दिया। यह नया प्रयोग अन्नाहारियों में प्रसिद्धि पा गया। पर मेरी तो फ़ज़ीहत ही हुई। भोजमात्र भोग के लिये ही होते हैं। पर पश्चिम में इनका विकास एक कला के रूप में किया गया है। भोज के समय विशेष सजावट और विशेष आडम्बर की व्यवस्था रहती है। बाजे बजते हैं, भाषण किये जाते हैं। इस छोटे से भोज में भी यह सारा आडम्बर था ही। मेरे भाषण का समय आया। मैं खड़ा हुआ। ख़ूब सोचकर बोलने की तैयारी की थी। मैंने कुछ ही वाक्यों की रचना की थी, पर पहले वाक्य से आगे न बढ़ सका। एडीसन के विषय में

पढ़ते हुए मैंने उसके लज्जाशील स्वभाव के बारे में पढ़ा था। लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमन्स) के उसके पहले भाषण के बारे में यह कहा जाता है कि उसने "मेरी धारणा है", "मेरी धारणा है", "मेरी धारणा है", यों तीन बार कहा, पर बाद में वह आगे न बढ़ सका। जिस अंग्रेज़ी शब्द का अर्थ 'धारणा' है, उसका अर्थ 'गर्भ धारण करना' भी है। इसलिये जब एडीसन आगे न बढ़ सका, तो लोकसभा का एक मसख़रा सदस्य कह बैठा कि "इन सज्जन ने तीन बार गर्भ धारण किया, पर ये कुछ पैदा तो कर ही न सके!" मैंने यह कहानी सोच रखी थी, और एक छोटा-सा विनोद-पूर्ण भाषण करने का मेरा इरादा था। इसलिये मैंने अपने भाषण का आरम्भ इस कहानी से किया, पर गाड़ी वहीं अटक गयी। सोचा हुआ सब कुछ भूल गया और विनोदपूर्ण तथा गूढ़ार्थभरा भाषण करने की कोशिश में मैं स्वयं विनोद का पात्र बन गया। अन्त में "सज्जनो, आपने मेरा निमंत्रण स्वीकार किया, इस के लिये मैं आप का आभार मानता हूं", इतना कहकर मुझे बैठ जाना पड़ा!

मैं कह सकता हूं कि मेरा यह शरमीला स्वभाव दक्षिण अफ़्रीका पहुंचने पर ही दूर हुआ। बिलकुल दूर हो गया, ऐसा तो आज भी नहीं कहा जा सकता। बोलते समय सोचना तो पड़ता ही है। नये समाज के सामने बोलते हुए मैं सकुचाता हूं। बोलने से बचा जा सके, तो ज़रूर बच जाता हूं। और यह स्थिति तो आज भी

नहीं है कि मित्र-मण्डली के बीच बैठा होने पर कोई ख़ास बात कर ही सकूं, अथवा बात करने की इच्छा होती हो।

शरमीले स्वभाव के लाभ

अपने इस शरमीले स्वभाव के कारण मेरी फ़ज़ीहत तो हुई, पर मेरा कोई नुक़सान नहीं हुआ; बल्कि अब तो मैं देख सकता हूं कि मुझे फ़ायदा हुआ है। पहले बोलने का यह संकोच मेरे लिये दुःखकर था, अब वह सुखकर हो गया है। एक बड़ा फ़ायदा तो यह हुआ कि मैं शब्दों का मितव्यय करना सीखा। मुझे अपने विचारों पर क़ाबू रखने की आदत सहज ही पड़ गई। मैं अपने-आपको यह प्रमाण-पत्र दे सकता हूं कि मेरी ज़बान या क़लम से बिना सोचे-विचारे या बिना तौले शायद ही कोई शब्द निकलता है। याद नहीं पड़ता कि अपने भाषण या लेख के किसी अंश के लिये मुझे कभी शरमाना या पछताना पड़ा हो। मैं अनेक संकटों से बच गया हूं, और मुझे अपना बहुत-सा समय बचा लेने का लाभ मिला है।

अनुभव ने मुझे यह भी सिखाया है कि सत्य के पुजारी के लिये मौन का सेवन इष्ट है। मनुष्य जाने-अनजाने भी प्रायः अतिशयोक्ति करता है, अथवा जो कहने योग्य है उसे छिपाता है, या दूसरे ढंग से कहता है। ऐसे संकटों से बचने के लिये भी मितभाषी होना आवश्यक है। कम बोलनेवाला बिना विचारे नहीं बोलेगा; वह अपने प्रत्येक शब्द को तौलेगा। अकसर मनुष्य बोलने के लिये

अधीर हो जाता है। 'मैं भी बोलना चाहता हूं', इस आशय की चिट्ठी किस सभापति को नहीं मिलती होगी ? फिर उसे जो समय दिया जाता है, वह उसके लिये पर्याप्त नहीं होता। वह अधिक बोलने देने की मांग करता है, और अन्त में बिना अनुमति के भी बोलता रहता है। इन सब लोगों के बोलने से दुनिया को लाभ होता हो, ऐसा क्वचित् ही पाया जाता है। पर उतने समय की बर्बादी तो स्पष्ट ही देखी जा सकती है। इसलिये यद्यपि आरम्भ में मुझे अपनी लज्जाशीलता दुःख देती थी, लेकिन आज उसके स्मरण से मुझे आनन्द होता है। यह लज्जाशीलता मेरी ढाल थी। उससे मुझे परिपक्व बनने का लाभ मिला। सत्य की अपनी पूजा में मुझे उससे सहायता मिली।

: १७ :

असत्य रूपी विष

चालीस साल पहले विलायत जानेवाले हिन्दुस्तानी विद्यार्थी आज की तुलना में कम थे। स्वयं विवाहित होने पर भी अपने को कुंआरा बताने का उनमें रिवाज-सा पड़ गया था। उस देश में स्कूल या कॉलेज में पढ़नेवाले कोई विद्यार्थी विवाहित नहीं होते। विवाहित के लिये विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहां तो प्राचीन काल में विद्यार्थी ब्रह्मचारी ही कहलाता था। बाल-विवाह की प्रथा

तो इस ज़माने में ही पड़ी है। कह सकते हैं कि विलायत में बाल-विवाह जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। इसलिये भारत के युवकों को यह स्वीकार करते हुए शरम मालूम होती है कि वे विवाहित हैं। विवाह की बात छिपाने का दूसरा एक कारण यह है कि अगर विवाह प्रकट हो जाये, तो जिस कुटुम्ब में रहते हैं उसकी जवान लड़कियों के साथ घूमने-फिरने और हंसी-मज़ाक़ करने का मौक़ा नहीं मिलता। यह हंसी-मज़ाक़ अधिकतर निर्दोष होता है। माता-पिता इस तरह की मित्रता पसन्द भी करते हैं। वहां युवक और युवतियों के बीच ऐसे सहवास की आवश्यकता भी मानी जाती है, क्योंकि वहां तो प्रत्येक युवक को अपनी सहधर्मचारिणी स्वयं खोज लेनी होती है। अतएव विलायत में जो सम्बन्ध स्वाभाविक माना जाता है, उसे हिन्दुस्तान का नवयुवक विलायत पहुंचते ही जोड़ना शुरू कर दे, तो परिणाम भयंकर ही होगा। कई बार ऐसे परिणाम प्रकट भी हुए हैं। फिर भी हमारे नवयुवक इस मोहिनी माया में फंसे पड़े थे। हमारे नवयुवकों ने उस सोहबत के लिये असत्याचरण पसन्द किया, जो अंग्रेज़ों की दृष्टि से कितनी ही निर्दोष होते हुए भी हमारे लिये त्याज्य है। इस फंदे में मैं भी फंस गया। पांच-छः साल से विवाहित और एक लड़के का बाप होते हुए भी मैंने अपने को कुंआरा बताने में संकोच नहीं किया! पर इसका स्वाद मैंने थोड़ा ही चखा। मेरे शरमीले स्वभाव ने, मेरे मौन ने, मुझे बहुत कुछ बचा लिया। जब मैं बोल ही न पाता था, तो कौन

लड़की ठाली बैठी थी जो मुझसे बात करती ? मेरे साथ घूमने के लिये भी शायद ही कोई लड़की निकलती ।

डरपोकता का उदाहरण

मैं जितना शरमीला था, उतना ही डरपोक भी था । वेंटनर में जिस परिवार में मैं रहता था, वैसे परिवार में घर की बेटी हो तो वह, सभ्यता के विचार से ही सही, मेरे समान विदेशी को घूमने ले जाती । सभ्यता के इस विचार से प्रेरित होकर इस घर की मालकिन की लड़की मुझे वेंटनर के आसपास की सुन्दर पहाड़ियों पर ले गयी । वैसे मेरी चाल कुछ धीमी नहीं थी, पर उसकी चाल मुझसे भी तेज़ थी । इसलिये मुझे उसके पीछे घसिटना पड़ा । वह तो रास्तेभर बातों के फ़व्वारे उड़ाती चली, जब कि मेरे मुंह से कभी 'हां' या कभी 'ना' की आवाज़भर निकलती थी । बहुत बोला तो 'कितना सुन्दर है !' कह देता । इससे ज़्यादा बोल न पाता । वह तो हवा में उड़ती जाती और मैं यह सोचता रहता कि वापस घर कब पहुंचूंगा । फिर भी यह कहने की हिम्मत न पड़ती कि 'चलो, अब लौट चलें ।' इतने में हम एक पहाड़ी की चोटी पर जा खड़े हुए । पर अब उतरा कैसे जाये ? अपने ऊंची एड़ीवाले बूटों के बावजूद बीस-पचीस साल की वह रमणी बिजली की तरह ऊपर से नीचे उतर गयी, जब कि मैं शर्मिंदा होकर अभी यही सोच रहा था कि ढाल कैसे उतरा जाये ! वह नीचे खड़ी हंसती है; मुझे

हिम्मत बंधाती है; ऊपर आकर हाथ का सहारा देकर नीचे ले जाने को कहती है ! मैं इतना पस्त-हिम्मत कैसे बनता ? मुश्किल से पैर जमाता हुआ, कहीं कुछ बैठता हुआ, मैं नीचे उतरा। उसने मज़ाक़ में 'शा· · ·ब्बा· ·श !' कहकर मुझ शरमाये हुए को और अधिक शर्मिंदा किया। इस तरह के मज़ाक़ से मुझे शर्मिंदा करने का उसे हक़ था।

मेरा कपट और पश्चात्ताप

लेकिन हर जगह मैं इस तरह कैसे बच पाता ? ईश्वर मेरे अन्दर से असत्य का विष निकालना चाहता था। वेंटनर की तरह ही ब्राइटन भी समुद्र किनारे हवाख़ोरी का मुक़ाम है। एक बार मैं वहां गया था। जिस होटल में मैं ठहरा था, उसमें साधारण ख़ुशहाल स्थिति की एक विधवा बुढ़िया भी हवाख़ोरी के लिये आकर टिकी थी। यह मेरा पहले वर्ष का समय था—वेंटनर के पहले का। यहां सूची में खाने की सभी चीज़ों के नाम फ़्रेंच भाषा में लिखे थे। मैं उन्हें समझता न था। मैं बुढ़ियावाली मेज़ पर ही बैठा था। बुढ़िया ने देखा कि मैं अजनबी हूं और कुछ परेशानी में भी हूं। उसने बातचीत शुरू की।

"तुम अजनबी-से मालूम होते हो। किसी परेशानी में भी हो। अभी तक कुछ खाने को भी नहीं मंगाया है !"

मैं भोजन के पदार्थों की सूची पढ़ रहा था, और परोसनेवाले से पूछने की तैयारी कर रहा

था। इसलिये मैंने उस भद्र महिला को धन्यवाद दिया और कहा: "यह सूची मेरी समझ में नहीं आ रही है। मैं अन्नाहारी हूं। इसलिये यह जानना ज़रूरी है कि इनमें से कौन सी चीज़ें निर्दोष हैं।"

उस महिला ने कहा: "तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूं और सूची समझा देती हूं। तुम्हारे खाने लायक़ चीज़ मैं तुम्हें बता सकूंगी।"

मैंने धन्यवाद पूर्वक उसकी सहायता स्वीकार की। यहां से हमारा जो सम्बन्ध जुड़ा, सो मेरे विलायत में रहने तक और उसके बाद भी बरसों तक बना रहा। उसने मुझे लन्दन का अपना पता दिया, और हर रविवार को अपने घर भोजन के लिये आने को न्योता। वह दूसरे अवसरों पर भी मुझे अपने यहां बुलाती थी, प्रयत्न करके मेरा शरमीलापन छुड़ाती थी, जवान स्त्रियों से जान-पहचान कराती थी और उनसे बातचीत करने को ललचाती थी। उसके घर रहने वाली एक स्त्री के साथ बहुत बात करवाती थी। कभी-कभी हमें अकेला भी छोड़ देती थी।

आरम्भ में मुझे यह सब बहुत कठिन लगा। बात करना सूझता न था। विनोद भी क्या किया जाये! पर वह बुढ़िया मुझे प्रवीण बनाती रही। मैं तालीम पाने लगा। हर रविवार की राह देखने लगा। उस स्त्री के साथ बात करना भी मुझे अच्छा लगने लगा।

बुढ़िया भी मुझे लुभाती जाती। उसे इस

संग में रस आने लगा। उसने तो हम दोनों का हित ही चाहा होगा।

अब मैं क्या करूं? मैंने सोचा: 'क्या ही अच्छा होता, अगर मैं इस भद्र महिला से अपने विवाह की बात कह देता? उस दशा में क्या वह चाहती कि किसी के साथ मेरा ब्याह हो? अब भी देर नहीं हुई है। मैं सच-सच कह दूं, तो अधिक संकट से बच जाऊंगा।' यह सोचकर मैंने उसे एक पत्र लिखा। अपनी स्मृति के आधार पर नीचे उसका सार देता हूं:

"जब से हम ब्राइटन में मिले, आप मुझ पर प्रेम रखती रही हैं। मां जिस तरह अपने बेटे की चिन्ता रखती है, उसी तरह आप मेरी चिन्ता रखती हैं। आप तो यह भी मानती हैं कि मुझे ब्याह करना चाहिये, और इसी ख़्याल से आप मेरा परिचय युवतियों से कराती हैं। ऐसे सम्बन्ध के अधिक आगे बढ़ने से पहले ही मुझे आप को यह कहना चाहिये कि मैं आपके प्रेम के योग्य नहीं हूं। मैं आपके घर आने लगा तभी मुझे आपको यह कह देना चाहिये था कि मैं विवाहित हूं। मैं जानता हूं कि हिन्दुस्तान के जो विद्यार्थी विवाहित होते हैं, वे इस देश में अपने ब्याह की बात प्रकट नहीं करते। इससे मैंने भी उस रिवाज का अनुकरण किया। पर अब मैं देखता हूं कि मुझे अपने विवाह की बात बिलकुल छिपानी नहीं चाहिये थी। मुझे साथ में यह भी कह देना चाहिये कि मेरा ब्याह बचपन में हुआ है, और मेरे एक लड़का भी है। आपसे इस बात को छिपाने का अब

मुझे बहुत दुःख होता है, पर अब भगवान् ने सच कह देने की हिम्मत दी है, इससे मुझे आनन्द होता है। क्या आप मुझे माफ़ करेंगी? जिस बहन के साथ आपने मेरा परिचय कराया है, उसके साथ मैंने कोई अनुचित छूट नहीं ली, इसका विश्वास मैं आपको दिलाता हूं। मुझे इस बात का पूरा-पूरा ख़्याल है कि मुझे ऐसी छूट नहीं लेनी चाहिये। पर आप तो स्वाभाविक रूप से यह चाहती हैं कि किसी के साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ जाये। आपके मन में यह बात आगे न बढ़े, इसके लिये भी मुझे आपके सामने सत्य प्रकट कर देना चाहिये।"

"यदि इस पत्र के मिलने पर आप मुझे अपने यहां आने के अयोग्य समझेंगी, तो मुझे उससे ज़रा भी बुरा नहीं लगेगा। आपकी ममता के लिये तो मैं आपका चिरऋणी बन चुका हूं। मुझे स्वीकार करना चाहिये कि अगर आप मेरा त्याग न करेंगी, तो मुझे ख़ुशी होगी। यदि अब भी आप मुझे अपने घर आने योग्य मानेंगी, तो उसे मैं आपके प्रेम की एक नयी निशानी समझूंगा, और उस प्रेम के योग्य बनने का सदा प्रयत्न करता रहूंगा।"

पाठक समझ लें कि यह पत्र मैंने क्षणभर में नहीं लिख डाला था। न जाने कितने मसविदे तैयार किये होंगे। पर यह पत्र भेज कर मैंने अपने सिर का एक बड़ा बोझ उतार डाला।

लगभग लौटती डाक से मुझे उस विधवा बहन का उत्तर मिला। उसने लिखा था:

"खुले दिल से लिखा तुम्हारा पत्र मिला।

हम दोनों खुश हुईं और खूब हंसीं। तुमने जिस असत्य से काम लिया, वह तो क्षमा के योग्य ही है। पर तुमने अपनी सही स्थिति प्रकट कर दी यह अच्छा ही हुआ। मेरा न्योता क़ायम है। अगले रविवार को हम अवश्य तुम्हारी राह देखेंगी, तुम्हारे बाल-विवाह की बात सुनेंगी, और तुम्हारा मज़ाक़ उड़ाने का आनन्द भी लूटेंगी। विश्वास रखो कि हमारी मित्रता तो जैसी थी वैसी ही रहेगी।"

इस प्रकार मैंने अपने अन्दर घुसे असत्य के विष को बाहर निकाल दिया, और फिर तो अपने विवाह आदि की बात करने में मुझे कहीं भी घबराहट नहीं हुई।

: १८ :

धर्मों का परिचय

विलायत में रहते मुझे कोई एक साल हुआ होगा। इस बीच दो थियासॉफ़िस्ट मित्रों से मेरी पहचान हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताजी की चर्चा की। वे एडविन आर्नोल्ड का गीताजी का अनुवाद पढ़ रहे थे। पर उन्होंने मुझे अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिये न्योता। मैं शरमाया, क्योंकि मैंने गीता संस्कृत में या मातृभाषा में पढ़ी ही नहीं थी। मुझे उनसे कहना पड़ा कि मैंने गीता पढ़ी ही नहीं

है, पर मैं उसे आपके साथ पढ़ने को तैयार हूं। संस्कृत का मेरा अभ्यास भी नहीं के बराबर ही है। मैं उसे इतना ही समझ पाऊंगा कि अनुवाद में कोई ग़लत अर्थ होगा, तो उसे सुधार सकूंगा। इस प्रकार मैंने उन भाइयों के साथ गीता पढ़ना शुरू किया। दूसरे अध्याय के अंतिम श्लोकों में से

"ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।"[1]

इन श्लोकों का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा। उनकी भनक मेरे कान में गूंजती ही रही। उस समय मुझे लगा कि भगवद्गीता अमूल्य ग्रंथ है। यह मान्यता धीरे-धीरे बढ़ती गयी, और आज तत्त्वज्ञान के लिये मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशा के समय में इस ग्रंथ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। मैं इसके लगभग सभी अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ गया हूं। पर एडविन आर्नोल्ड का अनुवाद मुझे श्रेष्ठ प्रतीत होता है। उसमें मूल ग्रंथ के भाव की रक्षा की गई है, फिर भी वह ग्रंथ अनुवाद-जैसा नहीं लगता। इस बार मैंने भगवद्गीता

---

[1] विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष को उन विषयों में आसक्ति पैदा होती है। फिर आसक्ति से कामना पैदा होती है, और कामना से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से मूढ़ता पैदा होती है, मूढ़ता से स्मृति-लोप होता है, और स्मृति-लोप से बुद्धि नष्ट होती है। और जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है उसका ख़ुद का नाश हो जाता है।

का अध्ययन किया, ऐसा तो मैं कह ही नहीं सकता। मेरे नित्य पाठ का ग्रंथ तो वह कई वर्षों के बाद बना।

धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन

इन्हीं भाइयों ने मुझे सुझाया कि मैं आर्नोल्ड का बुद्ध-चरित पढ़ूं। उस समय तक तो मुझे सर एडविन आर्नल्ड के गीता के अनुवाद का ही पता था। मैंने बुद्ध-चरित भगवद्गीता से भी अधिक रस-पूर्वक पढ़ा। पुस्तक हाथ में लेने के बाद उसे समाप्त करके ही छोड़ सका।

एक बार ये भाई मुझे ब्लैवट्स्की लॉज में भी ले गये। वहां मैडम ब्लैवट्स्की के और मिसेज़ बेसेंट के दर्शन कराये। मिसेज़ बेसेंट हाल ही थियासॉफ़िकल सोसायटी में दाख़िल हुई थीं। इससे समाचार पत्रों में इस सम्बन्ध की जो चर्चा चलती थी, उसे दिलचस्पी के साथ पढ़ा करता था। इन भाइयों ने मुझे सोसायटी में दाख़िल होने का भी सुझाव दिया। मैंने नम्रतापूर्वक इनकार किया और कहा: "मेरा धर्मज्ञान नहीं के बराबर है, इसलिये मैं किसी भी पंथ में सम्मिलित होना नहीं चाहता।" मेरा कुछ ऐसा ख़्याल है कि इन्हीं भाइयों के कहने से मैंने मैडम ब्लवट्स्की की पुस्तक 'की टू थियासॉफ़ी' (थियासॉफ़ी की कुंजी) पढ़ी थी। उससे हिन्दू धर्म की पुस्तकें पढ़ने की इच्छा पैदा हुई, और पादरियों के मुंह से सुना हुआ यह ख़्याल दिल से निकल गया कि हिन्दू धर्म अन्ध-विश्वासों से ही भरा हुआ है।

इन्हीं दिनों एक अन्नाहारी छात्रावास में मुझे मैंचेस्टर के एक ईसाई सज्जन मिले। उन्होंने मुझसे ईसाई धर्म की चर्चा की। मैंने उन्हें राजकोट का अपना संस्मरण सुनाया। वे सुनकर दुःखी हुए। उन्होंने कहा, "मैं स्वयं अन्नाहारी हूं। मद्यपान भी नहीं करता। यह सच है कि बहुत से ईसाई मांस खाते हैं और शराब पीते हैं; पर इस धर्म में दो में से एक भी वस्तु का सेवन करना कर्त्तव्य-रूप नहीं है। मेरी सलाह है कि आप बाइबिल पढ़ें।" मैंने उनकी यह सलाह मान ली। उन्होंने बाइबिल ख़रीद कर दी। मेरा कुछ ऐसा ख़्याल है कि वे भाई ख़ुद ही बाइबिल बेचते थे। उन्होंने नक़शों और विषय-सूची आदि से युक्त बाइबिल मुझे बेची। मैंने उसे पढ़ना शुरू किया, पर मैं 'पुराना इक़रार' (ओल्ड टेस्टामेण्ट) पढ़ ही न सका। 'जेनेसिस'—सृष्टि-रचना—के प्रकरण के बाद तो पढ़ते समय मुझे नींद ही आ जाती। मुझे याद है कि 'मैंने बाइबिल पढ़ी है,' यह कह सकने के लिये मैंने बिना रस के और बिना समझे दूसरे प्रकरण बहुत कष्ट-पूर्वक पढ़े थे। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण पढ़ते-पढ़ते मेरा जी उचट गया था।

'नये इक़रार'

पर जब 'नये इक़रार' (न्यू टेस्टामेण्ट) पर आया, तो कुछ और ही असर हुआ। ईसा के 'गिरि-प्रवचन' का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उसे मैंने हृदय में बसा लिया। बुद्धि ने

गीताजी के साथ उसकी तुलना की। 'जो तुझसे कुर्ता मांगे उसे अंगरखा भी दे दे,' 'जो तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, बायां गाल भी उसके सामने कर दे'——यह पढ़ कर मुझे अपार आनन्द हुआ। शामल भट्ट के छप्पय की याद आ गयी। मेरे बाल मन ने गीता, आर्नल्ड कृत बुद्ध-चरित और ईसा के वचनों का एकीकरण किया। मन को यह बात जंच गयी कि त्याग में धर्म है।

इस वाचन से दूसरे धर्माचार्यों की जीवनियां पढ़ने की इच्छा हुई। किसी मित्र ने कार्लाइल की 'विभूतियां और विभूति-पूजा' (हीरोज़ एन्ड हीरो-वर्शिप) पढ़ने की सलाह दी। उसमें से मैंने पैग़म्बर (हज़रत मुहम्मद) का प्रकरण पढ़ा, और मुझे उनकी महानता, वीरता और तपश्चर्या का पता चला।

मैं धर्म के इस परिचय से आगे न बढ़ सका। अपनी परीक्षा की पुस्तकों के अलावा दूसरा कुछ पढ़ने की फ़ुरसत मैं नहीं निकाल सका। पर मेरे मन ने यह निश्चय किया कि मुझे धर्म-पुस्तक पढ़नी चाहिये और सब मुख्य धर्मों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये।

ब्रेडला और नास्तिकता

नास्तिकता के बारे में भी कुछ जाने बिना काम कैसे चलता? ब्रेडला का नाम तो सब हिन्दुस्तानी जानते ही थे। ब्रेडला नास्तिक माने जाते थे। इसलिये उनके सम्बन्ध की एक पुस्तक पढ़ी। नाम मुझे याद नहीं रहा। मुझ पर उसका

कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। मैं नास्तिकता-रूपी सहारे के रेगिस्तान को पार कर गया। मिसेज़ बेसेंट की ख्याति तो उस समय भी ख़ूब थी। वे नास्तिक से आस्तिक बनी हैं, इस चीज़ ने भी मुझे नास्तिकवाद के प्रति उदासीन बना दिया। मैंने मिसेज़ बेसेंट की 'मैं थियासॉफ़िस्ट कैसे बनी ?' पुस्तिका पढ़ ली थी। उन्हीं दिनों ब्रेडला का देहान्त हुआ था। वोकिंग में उनका अंतिम संस्कार किया गया था। मैं भी वहां पहुंच गया था। मेरा ख़्याल है कि वहां रहने वाले हिन्दुस्तानियों में से तो एक भी बाक़ी नहीं बचा होगा। कई पादरी भी उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट करने के लिये आये थे। वापस लौटते हुए हम सब एक जगह रेलगाड़ी की राह देखते खड़े थे। वहां उस दल में से किसी पहलवान नास्तिक ने इन पादरियों में से एक के साथ जिरह शुरू की :

"क्यों साहब, आप कहते हैं न कि ईश्वर है ?"

उन भद्र पुरुष ने धीमी आवाज़ में उत्तर दिया : "हां, मैं कहता तो हूं।"

वह हंसा और मानो पादरी को मात दे रहा हो, इस ढंग से बोला : "अच्छा, आप यह तो स्वीकार करते हैं न कि पृथ्वी की परिधि २८,००० मील है ?"

"अवश्य।"

"तो कहिये, ईश्वर का क़द कितना होगा, और वह कहां रहता होगा ?"

"अगर हम समझें, तो वह हम दोनों के हृदय में वास करता है।"

"बच्चों को फुसलाइये, बच्चों को," कहकर उस योद्धा ने अपने आसपास खड़े हुए हम लोगों की तरफ़ विजयी की दृष्टि से देखा। पादरी नम्रता-पूर्वक मौन रहे। इस संवाद के कारण नास्तिकवाद के प्रति मेरी अरुचि और बढ़ गयी।

: १६ :

महाप्रदर्शनी

सन् १८६० में पेरिस में एक बड़ी प्रदर्शनी हुई थी। उसकी तैयारियों के बारे में मैं पढ़ता रहता था। पेरिस देखने की तीव्र इच्छा तो थी ही। मैंने सोचा कि यह प्रदर्शनी देखने जाऊं, तो दोहरा लाभ होगा। प्रदर्शनी में एफ़िल टॉवर देखने का आकर्षण बहुत था। यह टॉवर सिर्फ़ लोहे का बना है। एक हज़ार फ़ुट ऊंचा है। इसके बनने से पहले लोगों की यह कल्पना थी कि एक हज़ार फ़ुट ऊंचा मकान खड़ा ही नहीं रह सकता। प्रदर्शनी में और भी बहुत कुछ देखने जैसा था।

मैंने पढ़ा था कि पेरिस में एक अन्नाहारवाला भोजन-गृह है। उसमें एक कमरा ठीक किया। ग़रीबी से यात्रा करके पेरिस पहुंचा। सात दिन रहा। देखने योग्य सब चीज़ें अधिकतर पैदल घूमकर ही देखीं। साथ में पेरिस की और

उस प्रदर्शनी की 'गाइड' तथा नक़शा ले लिया था। उसके सहारे रास्तों का पता लगाकर मुख्य-मुख्य चीज़ें देख लीं।

प्रदर्शनी की विशालता और विविधता के सिवा उसकी और कोई बात मुझे याद नहीं है। एफ़िल टॉवर पर तो दो-तीन बार चढ़ा था, इसलिये उसकी मुझे अच्छी तरह याद है। पहली मंज़िल पर खाने-पीने का प्रबंध था। यह कह सकने के लिये कि इतनी ऊंची जगह पर भोजन किया था, मैंने साढ़े सात शिलिंग फूंककर वहां खाना खाया।

पेरिस के गिरजाघर

पेरिस के प्राचीन गिरजाघरों की याद बनी हुई है। उनकी भव्यता और उनके अंदर मिलने-वाली शांति भुलायी नहीं जा सकती। नोत्रदाम की कारीगरी और अन्दर की चित्रकारी को मैं आज भी भूला नहीं हूं। उस समय मन में यह ख़्याल आया था कि जिन्होंने लाखों रुपये ख़र्च करके ऐसे स्वर्गीय मन्दिर बनवाये हैं, उनके दिल की गहराई में ईश्वर-प्रेम तो रहा ही होगा।

पेरिस की फ़ैशन, पेरिस के स्वेच्छाचार और उसके भोग-विलास के विषय में मैंने काफ़ी पढ़ा था। उसके प्रमाण गली-गली में देखने को मिलते थे। पर ये गिरजाघर उन भोग-विलासों से बिलकुल अलग दिखायी पड़ते थे। गिरजों में घुसते ही बाहर की अशान्ति भूल जाती है। लोगों का व्यवहार बदल जाता है। लोग अदब से पेश आते हैं। वहां कोलाहल नहीं होता। कुमारी मरियम की

मूर्त्ति के सम्मुख कोई-न-कोई प्रार्थना करता ही रहता है। यह सब वहम नहीं है, बल्कि हृदय की भावना है, ऐसा प्रभाव उस समय मुझ पर पड़ा था, और वह बढ़ता ही गया है। कुमारिका की मूर्ति के सम्मुख घुटनों के बल बैठकर प्रार्थना करनेवाले उपासक संगमरमर के पत्थर को नहीं पूजते थे, बल्कि उसमें मानी हुई अपनी कल्पित शक्ति को पूजते थे। ऐसा करके वे ईश्वर की महिमा को घटाते नहीं, बल्कि बढ़ाते थे, यह प्रभाव मेरे मन पर उस समय पड़ा था, जिसकी धुंधली याद मुझे आज भी है।

एफ़िल टॉवर

एफ़िल टॉवर के बारे में दो शब्द कहना आवश्यक है। मैं नहीं जानता कि आज एफ़िल टॉवर का क्या उपयोग हो रहा है। प्रदर्शनी में जाने के बाद प्रदर्शनी-सम्बन्धी बातें तो पढ़ने में आती ही थीं। उसमें उसकी स्तुति भी पढ़ी और निन्दा भी। मुझे याद है कि निन्दा करनेवालों में टॉल्स्टॉय मुख्य थे। उन्होंने लिखा था कि एफ़िल टॉवर मनुष्य की मूर्खता का चिह्न है, उसके ज्ञान का परिणाम नहीं। अपने लेख में उन्होंने बताया था कि दुनिया में प्रचलित कई तरह के नशों में तम्बाकू का व्यसन एक प्रकार से सबसे ज़्यादा ख़राब है। कुकर्म करने की जो हिम्मत मनुष्य में शराब पीने से नहीं आती, वह बीड़ी पीने से आती है। शराब पीनेवाला पागल हो जाता है, जब कि बीड़ी पीनेवाले की अक़्ल पर धुंआं छा जाता है, और इस

कारण वह हवाई क़िले बनाने लगता है। टॉल्स्टॉय ने अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि एफ़िल टॉवर ऐसे ही व्यसन का परिणाम है।

एफ़िल टॉवर में सौन्दर्य तो कुछ है ही नहीं। ऐसा नहीं कह सकते कि उसके कारण प्रदर्शनी की शोभा में कोई वृद्धि हुई। वह एक नई चीज़ है, बड़ी चीज़ है, इसलिये हज़ारों लोग उसे देखने के लिये उस पर चढ़े। यह टॉवर प्रदर्शनी का एक खिलौना था। और जब तक हम मोहवश हैं, तब तक हम भी बालक हैं, यह चीज़ इस टॉवर द्वारा भलीभांति सिद्ध होती है। मानना चाहें, तो इतनी उपयोगिता उसकी मानी जा सकती है।

: २० :

बारिस्टर तो बने—लेकिन आगे क्या ?

मैं जिस काम के लिये—बारिस्टर बनने—विलायत गया था, उसका मैंने क्या किया, इसकी चर्चा मैंने अब तक छोड़ रखी थी। अब उसके बारे में कुछ लिखने का समय आ गया है।

बारिस्टर बनने के लिये दो बातों की ज़रूरत थी। एक थी, 'टर्म पूरी करना,' अर्थात् सत्र में उपस्थित रहना। वर्ष में चार सत्र होते थे। ऐसे बारह सत्रों में हाज़िर रहना था। दूसरी चीज़ थी, क़ानून की परीक्षा देना। सत्रों में उपस्थिति का

मतलब था, 'दावतें खाना'; यानी हरएक सत्र में लगभग चौबीस दावतें होती थीं, उनमें से छः में सम्मिलित होना। दावतों में भोजन करना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं था; पर निश्चित समय पर उपस्थित रहकर भोज की समाप्ति तक वहां बैठे रहना ज़रूरी था। आम-तौर पर तो सब खाते-पीते ही थे। खाने में अच्छी-अच्छी चीज़ें होती थीं, और पीने के लिये बढ़िया मानी जानेवाली शराब। अलबत्ता, उसके दाम चुकाने होते थे। यह रक़म ढाई से साढ़े तीन शिलिंग तक होती थी; अर्थात् दो-तीन रुपये का ख़र्च हुआ। वहां यह क़ीमत बहुत कम मानी जाती थी, क्योंकि बाहर के होटल में ऐसा भोजन करनेवालों को लग-भग इतने पैसे तो शराब के ही लग जाते थे। खाने के ख़र्च की अपेक्षा शराब पीनेवाले को पीने का ख़र्च अधिक होता है। हिन्दुस्तान में हमको—यदि हम 'सभ्य' न हुए तो—इस पर आश्चर्य हो सकता है। मुझे तो विलायत जाने पर यह सब जानकर बहुत आघात पहुंचा था। और मेरी समझ में नहीं आता था कि शराब पीने के पीछे इतना पैसा बरबाद करने की हिम्मत लोग कैसे करते हैं। बाद में समझना सीखा ! इन दावतों में मैं शुरू के दिनों में कुछ भी न खाता था। क्योंकि मेरे काम की चीज़ों में वहां सिर्फ़ रोटी, उबले आलू और गोभी ही होती थी। शुरू में तो ये रुचे नहीं, इससे खाये नहीं। बाद में जब उनमें स्वाद अनुभव किया, तब तो दूसरी चीज़ें भी प्राप्त करने की शक्ति मुझमें आ गयी थी।

भोजन

विद्यार्थियों के लिये एक प्रकार के भोजन की और 'बेंचरों' (विद्या-मन्दिर के बड़ों) के लिये अलग से अमीरी भोजन की व्यवस्था रहती थी। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी थे। वे भी अन्नाहारी बन गये थे। हम दोनों ने अन्नाहार के प्रचार के लिये 'बेंचरों' के भोजन में से अन्नाहारी के लायक़ चीज़ों की मांग की। मांग क़बूल हुई। इससे हमें 'बेंचरों' की मेज़ पर से फल वग़ैरा और दूसरी शाक-सब्ज़ियां मिलने लगीं।

शराब तो मेरे काम की नहीं थी। चार आदमियों के बीच शराब की दो बोतलें मिलती थीं। इसलिये अनेक चौकड़ियों में मेरी मांग रहती थी। मैं पीता नहीं था, इसलिये बाक़ी तीन को दो बोतलें जो 'उड़ाने' को मिल जाती थीं! इसके अलावा, इन सत्रों में एक 'महारात्रि' (ग्रैण्ड नाईट) होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी' के अलावा 'शेम्पेन' शराब भी मिलती थी। 'शेम्पेन' की लज़्ज़त कुछ और ही मानी जाती है। इसलिये इस 'महारात्रि' के दिन मेरी क़ीमत बढ़ जाती और उस रात हाज़िर रहने का न्योता भी मुझे मिलता।

इस खान-पान से बारिस्टरी में क्या वृद्धि हो सकती है, इसे मैं न तब समझ सका, न बाद में। एक समय ऐसा अवश्य था कि जब इन भोजों में थोड़े ही विद्यार्थी सम्मिलित होते थे, और उनके तथा बेंचरों के बीच वार्तालाप होता तथा भाषण

भी होते थे। इससे उन्हें व्यवहार-ज्ञान प्राप्त हो सकता था। वे अच्छी हो चाहे बुरी, पर एक प्रकार की सभ्यता सीखते थे, और भाषण करने की शक्ति बढ़ाते थे। मेरे समय में तो यह सब असंभव था। बेंचर तो दूर, एक तरफ़, अस्पृश्य बनकर बैठे रहते थे। इस पुरानी प्रथा का बाद में कोई मतलब नहीं रह गया। फिर भी प्राचीनता के प्रेमी—धीमे—इंग्लैण्ड में वह बनी रही।

क़ानून की पढ़ाई

क़ानून की पढ़ाई सरल थी। बारिस्टर मज़ाक़ में 'डिनर' (भोजके) बारिस्टर ही कहलाते थे। सब जानते थे कि परीक्षा का मूल्य नहीं के बराबर है। मेरे समय में दो परीक्षायें होती थीं: रोमन लॉ की और इंग्लैण्ड के क़ानून की। दो भागों में दी जानेवाली इस परीक्षा की पुस्तकें निर्धारित थीं। पर उन्हें शायद ही कोई पढ़ता था। रोमन लॉ पर लिखे संक्षिप्त 'नोट' मिलते थे। उन्हें पंद्रह दिन में पढ़कर पास होनेवालों को मैंने देखा था। यही चीज़ इंग्लैण्ड के क़ानून के बारे में भी थी। उस पर लिखे नोटों को दो-तीन महीनों में पढ़कर तैयार होनेवाले विद्यार्थी भी मैंने देखे थे। परीक्षा के प्रश्न सरल, परीक्षक उदार। रोमन लॉ में पंचानवे से निन्यानवे प्रतिशत तक लोग उत्तीर्ण होते थे, और अंतिम परीक्षा में पचहत्तर प्रतिशत या उससे भी अधिक। इस कारण अनुत्तीर्ण होने का डर बहुत कम रहता था। फिर परीक्षा वर्ष में एक बार नहीं, चार

बार होती थी। ऐसी सुविधावाली परीक्षा किसी के लिये बोझरूप हो ही नहीं सकती थी।

पर मैंने उसे बोझ बना लिया। मुझे लगा कि मुझे मूल पुस्तकें पढ़ ही जानी चाहियें। न पढ़ने में मुझे धोखेबाज़ी लगी। इसलिये मैंने मूल पुस्तकें ख़रीदने पर काफ़ी ख़र्च किया। मैंने रोमन लॉ को लेटिन में पढ़ डालने का निश्चय किया। विलायत की मैट्रिक्युलेशन परीक्षा में मैंने लेटिन सीखी थी, वह यहां उपयोगी हुई। यह पढ़ाई व्यर्थ नहीं गयी। दक्षिण अफ़्रीका में रोमन-डच-लॉ (क़ानून) प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझने में जस्टिनियन का अध्ययन मेरे लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

इंग्लैण्ड के क़ानून का अध्ययन मैं नौ महीनों में काफ़ी मेहनत के बाद समाप्त कर सका, क्योंकि ब्रूम के 'कॉमन लॉ' नामक बड़े, परन्तु दिलचस्प ग्रंथ का अध्ययन करने में ही काफ़ी समय लग गया। स्नेल की 'इक्विटी' को रसपूर्वक पढ़ा, पर उसे समझने में दम निकल गया। व्हाइट और ट्यूडर के प्रमुख मुकदमों में से जो पढ़ने योग्य थे, उन्हें पढ़ने में मुझे मज़ा आया और ज्ञान भी प्राप्त हुआ। विलियम्स और एडवर्ड्स की स्थावर सम्पत्ति-विषयक पुस्तक और गुडीव की जंगम सम्पत्ति पर लिखी पुस्तक मैं रसपूर्वक पढ़ सका था। विलियम्स की पुस्तक तो मुझे उपन्यास-सी लगी। उसे पढ़ते समय जी ज़रा भी नहीं ऊबा। क़ानून की पुस्तकों में इतनी ही रुचि के साथ हिन्दुस्तान आने के बाद मैंने मेइन का 'हिन्दू लॉ' पढ़ा था। पर

हिन्दुस्तान के क़ानून की बात यहां नहीं करूंगा।

परीक्षायें पास करके मैं १० जून, १८६१ के दिन बारिस्टर कहलाया। ११ जून को ढाई शिलिंग देकर इंग्लैण्ड के हाई कोर्ट में अपना नाम दर्ज कराया, और १२ जून को हिन्दुस्तान के लिये रवाना हुआ।

पर मेरी निराशा और मेरे भय की कोई सीमा न थी। मैंने अनुभव किया कि क़ानून तो मैं निश्चय ही पढ़ चुका हूं, पर ऐसी कोई भी चीज़ मैंने सीखी नहीं है, जिससे मैं वकालत कर सकूं।

अपनी इस व्यथा के वर्णन के लिये स्वतंत्र प्रकरण आवश्यक है।

: २१ :

मेरी परेशानी

बारिस्टर कहलाना आसान मालूम हुआ, पर बारिस्टरी करना मुश्किल लगा। क़ानून पढ़े, पर वकालत करना न सीखा। क़ानून में मैंने कई धर्मसिद्धान्त पढ़े, जो अच्छे लगे। पर यह समझ में न आया कि इस पेशे में उनका उपयोग कैसे किया जा सकेगा। 'अपनी सम्पत्ति का उपयोग इस तरह करो कि जिससे दूसरे की सम्पत्ति को हानि न पहुंचे'—यह एक धर्म-वचन है। पर मैं यह न समझ सका कि वकालत का पेशा करते हुए मुवक्किल के मामले में इसका उपयोग कैसे किया जा सकता होगा। जिन मुकदमों में इस सिद्धान्त का उपयोग हुआ था, उन्हें मैं पढ़ गया। पर

उससे मुझे इस सिद्धान्त का उपयोग करने की युक्ति मालूम न हुई।

इसके अलावा, पढ़े हुए क़ानूनों में हिन्दुस्तान के क़ानून का तो नाम तक न था। मैं यह जान ही न पाया कि हिन्दू शास्त्र और इस्लामी क़ानून कैसे हैं। न मैंने अर्ज़ी-दावा तैयार करना सीखा। मैं बहुत परेशान हुआ। फ़ीरोज़शाह मेहता का नाम मैंने सुना था। वे अदालतों में सिंह की तरह गर्जना करते हैं। विलायत में उन्होंने यह कला कैसे सीखी होगी? उनके जितनी होशियारी तो इस जीवन में आ ही नहीं सकती। पर एक वकील के नाते आजीविका प्राप्त करने की शक्ति पाने के विषय में भी मेरे मन में बड़ी शंका उत्पन्न हो गयी।

मेरी शंकाएं तथा उलझन

यह उलझन उसी समय से चल रही थी, जब मैं क़ानून का अध्ययन करने में लगा था। मैंने अपनी कठिनाइयां एक-दो मित्रों के सामने रखीं। उन्होंने सुझाया कि मैं दादाभाई नौरोजी की सलाह लूं। यह तो मैं पहले ही लिख चुका हूं कि दादाभाई के नाम एक पत्र मेरे पास था। उस पत्र का उपयोग मैंने देर में किया। ऐसे महान पुरुष से मिलने जाने का मुझे क्या अधिकार था? कहीं उनका भाषण होता, तो मैं सुनने जाता और एक कोने में बैठकर आंख और कान को तृप्त करके लौट आता। विद्यार्थियों से सम्पर्क रखने के लिये उन्होंने एक मण्डल की भी स्थापना की थी। मैं

उसमें जाता रहता था। विद्यार्थियों के प्रति दादाभाई की चिन्ता देखकर और उनके प्रति विद्यार्थियों का आदर देखकर मुझे आनन्द होता था। आखिर मैंने उन्हें अपने पास का सिफ़ारिशी पत्र देने की हिम्मत की। मैं उनसे मिला। उन्होंने मुझसे कहा था : "तुम मुझसे मिलना चाहो और कोई सलाह लेना चाहो, तो ज़रूर मिलना !" पर मैंने उन्हें कभी कोई कष्ट नहीं दिया। किसी भारी कठिनाई के सिवा उनका समय लेना मुझे पाप जान पड़ा। इसलिये उक्त मित्र की सलाह मानकर दादाभाई के सम्मुख अपनी कठिनाइयां रखने की मेरी हिम्मत न पड़ी।

उन्हीं मित्र ने या किसी और ने मुझे सुझाया कि मैं मि० फ़्रेडरिक पिंकट से मिलूं। मि० पिंकट कंज़र्वेटिव (अनुदार) दल के थे। पर हिन्दुस्तानियों के प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। कई विद्यार्थी उनसे सलाह लेते थे। अतएव उन्हें पत्र लिखकर मैंने मिलने का समय मांगा। उन्होंने समय दिया। मैं उनसे मिला। इस मुलाक़ात को मैं कभी भूल नहीं सका। वे मुझसे मित्र की तरह मिले। मेरी निराशा को तो उन्होंने हंसकर ही उड़ा दिया। "क्या तुम यह मानते हो कि सबके लिये फ़ीरोजशाह मेहता बनना ज़रूरी है ? फ़ीरोज़शाह मेहता या बदरुद्दीन तैयबजी तो एक-दो ही होते हैं। तुम निश्चय समझो कि साधारण वकील बनने के लिये बहुत अधिक होशियारी की ज़रूरत नहीं होती। साधारण प्रामाणि-

कता और लगन से मनुष्य वकालत का पेशा आराम से चला सकता है। सब मुकदमे उलझनों वाले नहीं होते। अच्छा, यह तो बताओ कि तुम्हारा साधारण वाचन क्या है ?"

अंग्रेज मित्र की सलाह

जब मैंने अपनी पढ़ी हुई पुस्तकों की बात की, तो मैंने देखा कि वे थोड़े निराश हुए। पर वह निराशा क्षणिक थी। तुरन्त ही उनके चेहरे पर हंसी छा गयी और वे बोले :

"अब मैं तुम्हारी मुश्किल को समझ गया। साधारण विषयों की तुम्हारी पढ़ाई बहुत कम है। तुम्हें दुनिया का ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकील का काम नहीं चल सकता। तुमने तो हिन्दुस्तान का इतिहास भी नहीं पढ़ा है। वकील को मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान होना चाहिये। उसे चेहरा देखकर मनुष्य को परखना आना चाहिये। साथ ही, हरएक हिन्दुस्तानी को हिन्दुतान के इतिहास का भी ज्ञान होना चाहिये। वकालत के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, पर तुम्हें इसकी जानकारी होनी चाहिये। मैं देख रहा हूं कि तुमने के और मेलेसन की १८५७ के ग़दर की किताब भी नहीं पढ़ी है। उसे तो तुम फ़ौरन पढ़ डालो, और जिन दो पुस्तकों के नाम देता हूं, तुम उन्हें मनुष्य की परख के ख़्याल से पढ़ जाना।" यों कहकर उन्होंने लेवेटर और शेमलपेनिक की मुख-सामुद्रिक-विद्या (फ़िज़ियोग्नॉमी) विषयक पुस्तकों के नाम लिख दिये।

मैंने उन वयोवृद्ध मित्र का बहुत आभार

माना। उनकी उपस्थिति में तो मेरा भय क्षण-भर के लिये दूर हो गया। पर बाहर निकलने के बाद तुरन्त ही मेरी घबराहट फिर शुरू हो गयी। चेहरा देखकर आदमी को परखने की बात को रटता हुआ और उन दो पुस्तकों का विचार करता हुआ मैं घर पहुंचा। दूसरे दिन लेवेटर की पुस्तक ख़रीदी। शेमलपेनिक की पुस्तक उस दुकान पर न मिली। लेवेटर की पुस्तक पढ़ी, पर वह तो स्नेल से भी अधिक कठिन जान पड़ी। रस भी नहीं के बराबर ही मिला। शेक्सपियर के चेहरे का अध्ययन किया। पर लन्दन की सड़कों पर चलनेवाले शेक्सपियरों को पहचानने की शक्ति तो मिली ही नहीं।

लेवेटर की पुस्तक से मुझे कोई ज्ञान नहीं मिला। मि० पिंकट की सलाह का सीधा लाभ मुझे कम ही मिला, पर उनके स्नेह का बड़ा लाभ मिला। उनके हंसमुख और उदार चेहरे की याद बनी रही। मैंने उनके इन वचनों पर श्रद्धा रखी कि वकालत करने के लिये फ़ीरोज़शाह मेहता की होशियारी और याददाश्त वग़ैरा की ज़रूरत नहीं है; प्रामाणिकता और लगन से काम चल सकेगा। इन दो की पूंजी तो मेरे पास काफ़ी मात्रा में थी। इसलिये दिल में कुछ आशा जागी।

के और मेलेसन की पुस्तक मैं विलायत में पढ़ नहीं पाया। पर मौक़ा मिलते ही उसे पढ़ डालने का निश्चय कर लिया था। यह इच्छा दक्षिण अफ़्रीका में पूरी हुई।

इस प्रकार निराशा में तनिक-सी आशा का पुट लेकर मैं कांपते पैरों 'आसाम' जहाज़ से बम्बई

के बन्दरगाह पर उतरा। उस समय बन्दरगाह में समुद्र क्षुब्ध था, इस कारण लांच (बड़ी नाव) में बैठकर किनारे पर आना पड़ा।

—आत्म कथा: पृष्ठ ३-७१

: २२ :

लंदन-दैनन्दिनी से[1]

सितम्बर ४, १८८८

सितम्बर ४, १८८८। समुद्र-यात्रा। जहाज़ ने लगभग ५ बजे शाम को लंगर उठाया। यात्रा के बारे में मुझे बहुत आशंका थी, परन्तु सौभाग्य से वह मेरे अनुकूल पड़ी। सारी यात्रा में मुझे प्रवास-जन्य कष्ट नहीं हुआ और न उलटियां हुईं। मैंने अपने जीवन में पहली ही बार भाप के जहाज़ द्वारा यात्रा की थी। मुझे यात्रा में खूब मज़ा आया। लगभग ६ बजे ब्यालू की घंटी बजी। स्टयूअर्ड ने मुझे मेज़ पर जाने की सूचना दी। परन्तु मैं गया नहीं। अपने साथ जो कुछ लाया था, वही मैंने खा लिया। श्री मजमुदार ने पहली ही रात को जिस स्वच्छन्दता से मेरे साथ बरताव किया उससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मेरे साथ ऐसे ढंग से बातें कीं, मानो हमारी पहचान बहुत पुरानी हो। उन्होंने अपनी चाबियां मुझे सौंप दीं और

---

[1]गांधीजीने दैनन्दिनी अंग्रेजी में लिखी थी। उसे लिखने के समय वे केवल १९ वर्ष के थे और उनका अंग्रेजी भाषा का ज्ञान विकसित हो ही रहा था।

मैंने उसी रात से उन्हें अपने बड़े भाई के समान मानना शुरू कर दिया। अदन तक हमारे साथ एक मराठा डाक्टर था। कुल मिलाकर वह एक अच्छा आदमी मालूम होता था। सो, दो दिन तक मैं उन फलों और मिठाइयों पर रहा, जो मेरे पास जहाज़ में थीं। बाद में श्री मजमुदार ने जहाज़ के कुछ लड़कों के साथ यह प्रबन्ध कर लिया कि वे हमारे लिये भोजन बना दिया करें। मैं तो कभी भी ऐसा प्रबन्ध न कर सका होता। एक अब्दुल मजीद थे, जो पहले दर्जे में यात्रा कर रहे थे। हम सलून-यात्री थे। छोकरे का बनाया हुआ शाम का भोजन हम ख़ूब स्वाद से खाते थे।

जहाज़

अब थोड़ा-सा जहाज़ के बारे में। मुझे जहाज़ की व्यवस्था बहुत पसन्द आई। जब हम कोठरियों या सलूनों में बैठते हैं तो हमें यह भान नहीं रहता कि ये कोठरियां और सलून जहाज़ के हिस्से हैं। कभी-कभी हमें जहाज़ का चलना महसूस ही नहीं होता। मज़दूरों और ख़लासियों का कौशल तो सराहनीय है। जहाज़ में बाजे थे। मैं अक्सर पियानो बजाया करता था। ताश, शतरंज और ड्राफ़्ट की जोड़ियां भी थीं। यूरोपीय यात्री रात को हमेशा ही कोई खेल खेला करते थे। छत (डेक) यात्रियों के लिये बड़ी राहत की चीज़ होती है। कोठरियों में बैठे-बैठे अक्सर मन ऊब उठता है। छत पर खुली हवा मिलती है। अगर आप निःसंकोची हों और ज़रूरी लियाक़त रखते हों तो

साथी-यात्रियों से मिल-जुल सकते हैं और उनसे बातचीत कर सकते हैं। जब आसमान साफ़ होता है तब समुद्र का दृश्य बड़ा सुहावना होता है। एक रात को, जब चांदनी छिटकी हुई थी, मैं समुद्र का अवलोकन कर रहा था। चन्द्र का प्रतिबिम्ब पानी पर पड़ रहा था। लहरों के कारण चन्द्रमा ऐसा दिखलाई पड़ता था मानो वह इधर-उधर डोलता हो। एक अंधेरी रात को, जब आसमान साफ़ था, तारों के प्रतिबिम्ब पानी पर दिखलाई पड़े। उस समय हमारे चारों ओर का दृश्य बड़ा सुन्दर था। पहले-पहल तो मैं अनुमान ही नहीं कर सका कि यह सब क्या है। ऐसा लगता था मानो इतने-सारे हीरे बिखरे हुए हों। परन्तु यह तो मैं जानता ही था कि हीरे तैर नहीं सकते। फिर मैंने सोचा कि ये कोई कीड़े होंगे, जो रात को ही देख पड़ते हैं। इन्हीं विचारों में डूबे हुए मैंने आसमान की ओर देखा और मैं समझा कि ये तो और कुछ नहीं, तारों के प्रतिबिम्ब हैं। मैं अपनी भूल पर हंस पड़ा। तारों की ये परछाइयां आतिश-बाज़ी की कल्पना कराती हैं। ज़रा कल्पना कीजिये कि आप किसी बंगले की छत पर खड़े हुए हैं और अपने सामने छूटने वाली आतिशबाज़ियां देख रहे हैं। मैं अक्सर इस दृश्य का आनन्द लिया करता था।

कुछ दिनों तक मैंने साथी-यात्रियों से बिलकुल बातचीत नहीं की। मैं हमेशा सुबह आठ बजे सोकर उठता था और दांत धोकर, शौच आदि से निबट कर स्नान करता था। विलायती पाख़ानों

की व्यवस्था भारतीय यात्रियों को ताज्जुब में डालने वाली थी। वहां पानी नहीं होता, काग़ज़ के टुकड़ों से काम चलाना पड़ता है।

अदन

लगभग पांच दिन तक समुद्र-यात्रा का अ।नन्द लेने के बाद हम अदन पहुंचे। इस बीच हमें कहीं भूमि या पर्वतों का एक टुकड़ा भी दिखाई नहीं दिया। हम सब समुद्र-यात्रा के नीरस एक-सुरेपन से ऊब गये थे और ज़मीन देखने को आतुर थे। आख़िर छठवें दिन के सबेरे हमें भूमि दिखलाई पड़ी। सब आनन्दित और प्रफुल्ल दीखने लगे। ग्यारह बजे सुबह के लगभग जहाज़ ने अदन में लंगर डाला। कुछ लड़के छोटी-छोटी नावें लेकर आ गये। वे बड़े अच्छे तैराक थे। कुछ यूरोपीयों ने पानी में पैसे फेंक दिये। इन लड़कों ने गहरी डुबकियां लगाकर उन पैसों को निकाल लिया। काश, मैं भी इस तरह तैर सकता! वह दृश्य बड़ा सुहावना था। लगभग आधे घंटे तक उसका आनन्द लेने के बाद हम अदन देखने गये। मैं कह दूं कि हमने उन लड़कों को पैसे निकालते हुए सिर्फ़ देखा; ख़ुद हमने एक पाई भी नहीं फेंकी। इस दिन से हमें इंग्लैंड के ख़र्च की कल्पना होने लगी। हम तीन व्यक्ति थे, और नाव का भाड़ा दो रुपये देना पड़ा। किनारा तो मुश्किल से शायद एक मील रहा होगा। हम १५ मिनट में किनारे पर पहुंच गये। बाद में हमने एक गाड़ी की। हम अदन की एक-मात्र देखने लायक़ चीज़ पानी घर देखने जाना चाहते थे;

परन्तु दुर्भाग्य से समय हो गया और हम जा नहीं सके। हमने अदन का कैम्प देखा। अच्छा था। इमारतें अच्छी थीं। आम तौर पर दुकानें ही थीं। इमारतों की बनावट सम्भवत: वही थी, जो राजकोट के बंगलों की और ख़ास तौर पर पोलिटिकल एजेंट के नये बंगले की है। मैंने कोई कुआं या ताज़े पानी का कोई दूसरा स्थान नहीं देखा। मुझे भय है कि, शायद ताज़ा पानी सिर्फ़ तालाबों से आता है। धूप बड़ी तेज़ थी। मैं पसीने में डूबा हुआ था। इसका कारण यह था कि हम लाल सागर से बहुत दूर नहीं थे। मैंने एक भी पेड़ या हरा पौधा नहीं देखा और इससे मुझे और भी आश्चर्य हुआ। लोग ख़च्चरों या गधों पर सवारी करते थे। अगर हम चाहते तो ख़च्चर किराये पर ले सकते थे। कैम्प पहाड़ पर है। जब हम लौटे तो नाववालों ने बताया कि जिन लड़कों के बारे में मैंने ऊपर लिखा है वे कभी-कभी घायल हो जाते हैं। समुद्र के जानवर कभी किसी के पैर और कभी किसी के हाथ काट लेते हैं। परन्तु फिर भी, वे लड़के इतने ग़रीब हैं कि अपनी छोटी-छोटी नावों पर बैठ कर आ ही जाते हैं। हम तो उन नावों पर बैठने का साहस ही नहीं कर सकते। हममें से हर एक को एक-एक रुपया गाड़ी-भाड़ा देना पड़ा। लंगर १२ बजे दुपहर को उठा और हम अदन से रवाना हो गये। परन्तु उस दिन से हमें रोज़ ही धरती का कोई-न-कोई हिस्सा दिखलाई देता रहा।

लाल सागर

शाम को हम लाल सागर में प्रविष्ट हुए।

वहां गर्मी महसूस होने लगी। मगर बम्बई में कुछ लोग जैसी बताते हैं, वैसी भून देने वाली गर्मी मेरे ख़्याल से, वह नहीं थी। बेशक कोठरियों में वह असह्य थी। आप धूप में रह नहीं सकते, कोठरी में कुछ मिनट भी रहना पसन्द नहीं करेंगे; मगर छत पर हों तो आप को ताज़ी हवा के सुखद झकोरे ज़रूर मिलेंगे। कम से कम मुझे तो मिले। क़रीब-क़रीब सभी यात्री छत पर सोते थे, और मैं भी ऐसा ही करता था। प्रभात-सूर्य की गर्मी भी आप सह नहीं सकते। छत पर आप हमेशा सुरक्षित रहते हैं। यह गर्मी लगभग तीन दिन तक रही। बाद में, चौथी रात को हम स्वेज़ नहर में दाख़िल हुए। स्वेज़ के दीप हम बहुत दूर से देख सकते थे। लाल सागर कहीं तो बहुत चौड़ा था, कहीं बहुत संकरा—इतना संकरा कि हम दोनों ओर की भूमि देख सकते थे। स्वेज़ नहर में दाख़िल होने के पहले हम 'हेल्सगेट' (नरक-द्वार) से गुज़रे। 'हेल्सगेट' एक बहुत संकरा जलभाग है, जो दोनों ओर पहाड़ों से बंधा हुआ है। उसे 'नरक-द्वार' इसलिये कहा जाता है कि बहुत-से जहाज़ वहां टकरा कर नष्ट हो जाते हैं। हमने लाल सागर में एक नष्ट हुआ जहाज़ देखा था। स्वेज़ में हम लगभग आधा घंटा ठहरे। अब कहा जाने लगा कि हमें ठंड झेलनी होगी। कुछ लोगों ने कहा था कि अदन से रवाना होने के बाद तुम्हें शराब की ज़रूरत पड़ेगी। मगर यह ग़लत निकला। अब मैंने सह-यात्रियों से थोड़ी-थोड़ी बातचीत शुरू कर दी थी। उन्होंने कहा था कि अदन के आगे तुम्हें

मांस की ज़रूरत पड़ेगी, मगर ऐसा नहीं हुआ। अपने जीवन में पहली बार मैंने अपने जहाज़ के आगे बिजली की रोशनी देखी। वह चांदनी जैसी दिखाई पड़ती थी। उससे जहाज़ का सामने का हिस्सा बड़ा सुन्दर लगता था। मुझे लगता है कि जो आदमी इसे किसी दूसरी जगह से देखता होगा उसे यह और भी सुन्दर दिखलाई पड़ती होगी। यह बात ठीक वैसी ही है जैसे कि हम अपने शरीर के सौन्दर्य का इतना आनन्द नहीं ले सकते, जितना कि दूसरे ले सकते हैं; अर्थात्, हम उसे सराहक दृष्टि से देख नहीं सकते। स्वेज़ नहर की रचना मेरी समझ में नहीं आई। सचमुच वह अद्भुत है। जिस आदमी ने इसका निर्माण किया है उसकी प्रतिभा की कल्पना मैं नहीं कर सकता। पता नहीं कैसे उसने यह किया होगा। कहना बिलकुल ठीक ही है कि उसने प्रकृति से होड़ की है। दो समुद्रों को जोड़ देना कोई सरल काम नहीं है। नहर से एक समय पर सिर्फ़ एक जहाज़ निकल सकता है। इसके लिए कुशल मार्ग-दर्शन की आवश्यकता होती है। जहाज़ बहुत धीमी चाल से चलता है। हमें उसके चलने का कोई भान नहीं होता। नहर का पानी बिलकुल गँदला है। मुझे उसकी गहराई की याद नहीं। चौड़ी वह उतनी ही है जितनी रामनाथ के पास आजी नदी[1] है। दोनों ओर आप आदमियों को चलते-फिरते देख सकते हैं। नहर के पास की

[1]राजकोटके पास।

ज़मीन ऊसर है। नहर फ्रांसीसियों की है। जहाज़ को मार्ग दिखाने के लिये इस्माइलिया से दूसरा मार्ग-दर्शक (पाइलट) आता है। फ्रांसीसी लोग नहर से गुज़रनेवाले हर जहाज़ से कुछ रुपया वसूल करते हैं। यह आमदनी बहुत बड़ी होगी। जहाज़ के बिजली के दीपक के अलावा लगभग २० फ़ुट की दूरी पर दोनों ओर और भी चिराग़ दिखाई देते हैं। ये चिराग़ अलग-अलग रंगों के हैं। जहाज़ चिरागों की इन क़तारों को पार कर के निकलता है। नहर पार करने में लगभग २४ घंटे लगते हैं। इस दृश्य की ख़ूबसूरती बखानना मेरी ताक़त के बाहर है। उसे देखे बिना आप उसका आनन्द नहीं पा सकते।

पोर्ट सईद

पोर्ट सईद इस नहर के अन्तिम सिरे का बन्दरगाह है। पोर्ट सईद का अस्तित्व ही स्वेज़ नहर के कारण है। हमारा जहाज़ शाम को वहां रुका। वह एक घंटे ही वहां रुकनेवाला था, मगर एक घंटा उस बन्दरगाह को देखने के लिये बिलकुल काफ़ी था। वहां ब्रिटिश सिक्कों का प्रचलन था। भारतीय सिक्के बिलकुल बेकार हो गये। नाव का भाड़ा ६ पेंस फ़ी-सवारी था। एक पेंस एक आने के बराबर होता है। पोर्ट सईद की रचना फ्रांसीसी है। वहां फ्रांसीसी जीवन की झलक मिल जाती है। हमने कुछ काफ़ी-घर देखे। एक को देखकर पहले-पहल तो मैंने सोचा कि कोई नाटक-घर है, मगर वह तो काफ़ी-घर

निकला। उसमें एक ओर काफ़ी, सोडा, चाय या कोई भी दूसरे पेय-पदार्थ मिलते हैं, दूसरी ओर गाना-बजाना होता है। कुछ स्त्रियां चिकारों (फ़िडल्स) का वृन्द-वादन कर रही थीं। बम्बई में लेमनेड की जो बोतल एक आने से भी कम में मिलती है, उसकी क़ीमत इन काफ़ी-घरों में—जिन्हें 'काफ़े' कहा जाता है—१२ आने (१२ पेंस) होती है। कहा जाता है कि ग्राहकों को गाना-बजाना मुफ़्त में सुनने को मिलता है। मगर सचमुच बात यह नहीं है। जैसे ही गाना-बजाना ख़त्म हुआ कि एक स्त्री रूमाल से ढँकी हुई एक तश्तरी लेकर हर एक ग्राहक के पास जाती है। मतलब यह होता है कि उसे कुछ दिया जाये और हम कुछ देने के लिये बाध्य हो जाते हैं। हम 'काफ़े' में गये और उस स्त्री को हमने ६ पेंस दिये। पोर्ट सईद विलास के केन्द्र के अलावा कुछ नहीं है। वहां के स्त्री और पुरुष बड़े चालाक हैं। दुभाषिये आपको रास्ता दिखाने के लिये पीछे लग जायेंगे। मगर आप उनसे साफ़-साफ़ कह दें कि हमें आपकी ज़रूरत नहीं है। पोर्ट सईद मुश्किल से राजकोट के 'परा'[1] के बराबर होगा। हम सात बजे शाम को पोर्ट सईद से रवाना हुए।

ब्रिंडिसी

हमारे सह-यात्रियों में से एक श्री जेफ़रीज़ मुझ पर बड़े मेहरबान थे। वे हमेशा मुझसे मेज़ पर जाने और कुछ खाने को कहा करते थे। मगर

[1]गुजराती में, उपनगर।

में नहीं जाता था। उन्होंने कहा कि ब्रिंडिसी पहुंचने के बाद तुम्हें ठंड मालूम पड़ेगी। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। तीन दिन बाद हम रात को ब्रिंडिसी पहुंचे। ब्रिंडिसी का बन्दरगाह बड़ा सुन्दर है। जहाज़ किनारे तक गया और हम लोग एक सीढ़ी से—जो इसीलिये लगा दी गई थी—किनारे पर उतर गये। (अँधेरा)होने के कारण मैं ब्रिंडिसी में ज़्यादा-कुछ नहीं देख सका। वहां सब लोग इतालवी भाषा बोलते हैं। सड़कें पत्थर से पटी हुई हैं। गलियां उतार-चढ़ाववाली हैं और उनपर भी पत्थरों की फ़र्शी है। दीपकों के लिये गैस का उपयोग किया जाता है। हमने ब्रिंडिसी का स्टेशन देखा। वह उतना सुन्दर नहीं था, जितने सुन्दर बम्बई-बड़ोदा और सेंट्रल इंडिया रेलवे के स्टेशन हैं। परन्तु रेल के डिब्बे हमारे डिब्बों से बहुत बड़े थे। यातायात वहां अच्छा है। हम तड़के ब्रिंडिसी से रवाना हुए।

माल्टा

लगभग तीन दिन बाद हम माल्टा पहुंचे। जहाज़ ने कोई दो बजे दुपहर को लंगर डाला। वहां वह लगभग चार घंटे ठहरनेवाला था।...

माल्टा एक दिलचस्प जगह है। वहां देखने लायक़ बहुत-सी चीज़ें हैं। मगर हमारे पास समय काफ़ी नहीं था। श्री मजमुदार और मैं तट पर गये। लगभग आधा घंटा चलने के बाद हम सेंट जान गिरजे में पहुंचे। गिरजाघर बड़ा सुन्दर बना था। वहां हमने कुछ प्रतिष्ठित लोगों के अस्थिपंजर देखे।

वे बहुत पुराने थे। जिस साथी ने हमें गिरजाघर दिखाया था उसको हमने एक शिलिंग दिया। गिरजे के ठीक सामने सेंट जान की प्रतिमा थी। वहां से हम शहर को चले। सड़कें फ़र्शदार थीं और उनके दोनों ओर लोगों के पैदल चलने के लिये फ़र्शदार पटरियां बनी थीं। टापू बहुत सुन्दर है। उसमें बहुत-सी शानदार इमारतें हैं। हम शस्त्रास्त्र-भवन देखने गये। यह भवन बड़ी सुन्दरता से सजा था। वहां हमने बहुत पुराने चित्र देखे। वे सिर्फ़ रंग से बने हुए नहीं थे, बल्कि क़शीदाकारी के थे। परन्तु किसी अनजान आदमी को किसी के बताये बिना मालूम नहीं होता कि वे क़शीदाकारी के हैं। वहां पुराने योद्धाओं के शस्त्रास्त्र रखे हुए थे। उनमें सभी देखने लायक़ हैं। मैंने लिख नहीं रखा, इसलिये मुझे उन सब की याद नहीं है। परन्तु एक फ़ौजी टोप (हेल्मेट) था, जिसका वज़न तीस पौंड था। नेपोलियन बोनापार्ट की गाड़ी बड़ी सुन्दर थी। जिस आदमी ने हमें भवन दिखाया उसे ६ पेंस इनाम देकर हम लौट पड़े। गिरजाघर और शस्त्रास्त्र-भवन देखते समय आदर-प्रदर्शन के लिये हमें अपने टोप उतार लेने पड़े थे। हमने एक और गिरजाघर देखा। वह भी बहुत सुन्दर और देखने लायक़ था। हमें संगीत-नाटकघर (आपेरा हाऊस) देखना था, पर उसके लिये समय नहीं बचा।

नाववाले से भाड़े के बारे में हमारी कुछ कहा-सुनी हो गई। नतीजा अलबत्ता उसके ही पक्ष में रहा। यहां हम ख़ूब ठगे गये।

जिब्राल्टर

क्लाइड जहाज़ ७ बजे शाम को रवाना हुआ। तीन दिन की यात्रा के बाद हम १२ बजे रात को जिब्राल्टर पहुंचे। जहाज़ सारी रात वहां रुका रहा। मेरी ज़िब्राल्टर देखने की बहुत इच्छा थी, इसलिये मैं सुबह जल्दी उठा और मैंने श्री मजमुदार को जगाकर उनसे पूछा कि वे मेरे साथ तट पर जायेंगे या नहीं। उन्होंने कहा कि जायेंगे। तब श्री मजीद के पास जाकर मैंने उन्हें जगाया। हम तीनों तट पर गये। हमारे पास सिर्फ़ डेढ़ घंटे का समय था। तड़का होने के कारण सब दूकानें बन्द थीं। कहा जाता है कि ज़िब्राल्टर तट-कर से मुक्त बन्दरगाह है, इसलिये वहां सिगरेट आदि धूम्रपान की वस्तुएं बहुत सस्ती मिलती हैं। जिब्राल्टर एक पहाड़ी पर बना हुआ है। शिखर पर क़िला है। मगर हम उसे देख नहीं पाये, इसका बहुत अफ़सोस रहा। मकान क़तारों में हैं। पहली क़तार से दूसरी क़तार में जाने के लिये कुछ सीढ़ियां चढ़ना ज़रूरी होता है। मुझे वह बहुत पसन्द आया। रचना बहुत ही सुन्दर है। सड़कें पटी हुई हैं। समय न होने से हम जल्दी लौटनेके लिये लाचार थे। जहाज़ साढ़े आठ बजे सुबह रवाना हो गया।

प्लाइमाऊथ

तीन दिन बाद हम ११ बजे रात को प्लाइमाऊथ पहुंच गये। अब ठीक सर्दी का समय आ गया था। हर एक यात्री कहता था कि तुम लोग मांस और

शराब बिना मर जाओगे। मगर ऐसा हुआ तो नहीं। ठंड तो सचमुच बहुत थी। हमें तूफ़ान की सूचना भी दी गई थी, मगर हम उसे नहीं देख पाये। दरअसल मैं उसे देखने को बहुत उत्सुक था, मगर देख नहीं सका। रात होने के कारण हम प्लाइमाऊथ में कुछ भी देख नहीं सके। कुहरा घना था। आख़िरकार जहाज़ लंदन के लिये रवाना हो गया। २४ घंटों में हम लंदन पहुंचे। जहाज़ छोड़कर हम टिलबरी रेलवे स्टेशन से २८ अक्तूबर, १८८८ के ४ वजे सायंकाल विक्टो-टोरिया होटल में पहुंच गये।

लंदन–विक्टोरिया होटल

श्री मजमुदार, श्री अब्दुल मजीद और मैं विक्टोरिया होटल में पहुंचे। श्री अब्दुल मजीद ने विक्टोरिया होटल के आदमी से कुछ शान दिखाते हुए कहा कि वह हमारे गाड़ीवाले को मुनासिब किराया दे दे। श्री अब्दुल मजीद अपने-आप को बहुत बड़ा समझते थे, लेकिन मैं यहां लिख दूं कि वे जो कपड़े पहने हुए थे वे शायद होटल के उस छोकरे के कपड़ों से भी ख़राब थे। उन्होंने सामान की भी कोई परवाह नहीं की और, जैसे कि लंदन में बहुत दिनों से रह रहे हों, वे होटल के अन्दर चले गये। होटल के ठाट-बाट देखकर मैं चकरा गया। मैंने अपनी ज़िंदगी में इतनी शान-शौकत कभी नहीं देखी थी। मेरा काम चुपचाप अपने दोनों मित्रों के पीछे-पीछे चलना भर था। सभी जगहों

में बिजली की बत्तियां थीं। हमें एक कमरे में ले जाया गया। श्री मजीद एकदम अन्दर चले गये। मैनेजर ने उसी समय उनसे पूछा कि आपको दूसरा खंड पसन्द होगा या नहीं। श्री मजीद ने रोज़ाना भाड़े के बारे में पूछताछ करना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझ कर कह दिया—हां। मैनेजर ने फ़ौरन प्रत्येक के नाम ६ शिलिंग रोज़ का बिल काट कर एक छोकरे को हमारे साथ भेज दिया। मैं सारे समय मन ही मन हंसता रहा। अब हमें एक 'लिफ़्ट' के ज़रिये दूसरे खंड में जाना था। मैं नहीं जानता था कि लिफ़्ट क्या है। छोकरे ने कोई चीज़ छुई जो, मैंने सोचा, दरवाज़े का ताला होगा। परन्तु, जैसा कि मुझे बाद में मालूम हुआ, वह एक घंटी थी, जो उसने लिफ़्ट के छोकरे को यह जताने के लिये बजाई थी कि वह लिफ़्ट ले आये। दरवाज़ा खोला गया और मैंने सोचा कि यह कोई कमरा है, जिसमें हमें कुछ देर ठहरना होगा। लेकिन हमें उससे दूसरे खंड में ले जाया गया और इस पर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। (अपूर्ण)

—सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय

: २३ :

इंग्लैंड क्यों गया ?

प्रश्न : इंग्लैण्ड आने और क़ानूनी पेशा

अख़्तियार करने की प्रेरणा सबसे पहले आपको किस बात से मिली ?

उत्तर : एक शब्द में––महत्त्वाकांक्षा से। मैंने सन् १८८७ में बम्बई विश्वविद्यालय से मैट्रिक की परीक्षा पास की। बाद में भावनगर कालेज में दाख़िल हुआ। कारण यह था कि जबतक कोई बम्बई विश्वविद्यालय का स्नातक (ग्रैजुएट) नहीं हो जाता, उसे समाज में प्रतिष्ठा नहीं मिलती। यदि कोई उसके पहले ही नौकरी करना चाहे तो उसे तबतक अच्छे वेतन और आदर-मान की नौकरी नहीं मिलती जबतक कोई बहुत प्रभावशाली व्यक्ति उसका पृष्ठ-पोषक न हो। परन्तु मैंने देखा कि स्नातक बनने के लिये मुझे कम-से-कम तीन वर्ष ख़र्च करने पड़ेंगे। इसके अलावा, मुझे हमेशा सिर-दर्द और नाक से ख़ून बहने की शिकायत रहा करती थी, जिसका कारण गरम आबहवा मानी जाती थी। और, आख़िर, स्नातक बनकर भी तो मैं बहुत बड़ी आमदनी की आशा नहीं कर सकता था। मैं लगातार इन चिन्ताओं में डूबा रहने लगा। ऐसे ही अवसर पर मेरे पिता के एक पुराने मित्र मुझसे मिले और उन्होंने मुझे इंग्लैण्ड आने और बैरिस्टरी पास करने की सलाह दी। मानो, उन्होंने मेरे अन्दर जलती हुई आग को धौंक दिया। मैंने मन में सोचा––"अगर मैं इंग्लैण्ड चला जाऊं तो न सिर्फ़ बैरिस्टर बन जाऊँगा (जिसको मैं बहुत बड़ी चीज़ समझता था), बल्कि दार्शनिकों और कवियों की भूमि, सभ्यता के साक्षात् केन्द्र-स्थल

इंग्लैण्ड को भी देख सकूंगा।" मेरे बुज़ुर्गों पर इन सज्जन का बहुत प्रभाव था, इसलिये मुझे इंग्लैण्ड भेजने के लिये उन्हें समझाने में ये सफल हो गये।

मेरे इंग्लैण्ड आने के कारणों का यह बहुत संक्षिप्त बयान है। परन्तु यह मेरे आज के विचारों का द्योतक नहीं है।

मित्रों का विरोध

प्रश्न : आपके इस महत्त्वाकांक्षी आयोजन पर आपके सब मित्र तो ख़ुश ही हुए होंगे ?

उत्तर : नहीं नहीं, सब नहीं। मित्र तो अलग-अलग तरह के होते हैं। जो मेरे सच्चे मित्र और मेरी उम्र के थे, उन्हें यह सुन कर बहुत ख़ुशी हुई कि मैं इंग्लैण्ड जानेवाला हूं। कुछ मित्र—या यों कहिये कि शुभाकांक्षी—उम्र में बड़े थे। उनका सच्चा विश्वास था कि मैं अपने-आपको बरबाद करने जा रहा हूं और इंग्लैण्ड जाकर मैं अपने परिवार के लिये कलंकरूप बन जाऊँगा। दूसरे लोगों ने केवल ईर्ष्या-द्वेष के कारण विरोध किया। उन्होंने कुछ ऐसे बैरिस्टरों को देखा था, जिनकी आमदनी अपार थी। उन्हें डर था कि मैं भी वैसी ही कमाई करने लगूँगा। फिर कुछ लोग ऐसे थे जो समझते थे कि अभी मेरी उम्र बहुत छोटी है (इस समय मैं लगभग २२ वर्ष का हूँ), या मैं इंग्लैण्ड की आबहवा को बरदाश्त नहीं कर सकूंगा। सारांश यह कि कोई भी दो लोग ऐसे नहीं थे, जिन्होंने

एक ही कारण से मेरे आने का समर्थन या विरोध किया हो ।

मेरी कठिनाइयों की कहानी

प्रश्न : आपने अपने इरादों को पूर्ण करने के लिये क्या-क्या किया ? अगर कष्ट न हो तो कृपया बताइये कि आपको क्या-क्या कठिनाइयाँ हुईं और आपने उन्हें कैसे पार किया ?

उत्तर : मैं आपको अपनी कठिनाइयों की कहानी बताने का प्रयत्न भी करूँ तो आपका मूल्यवान पत्र पूरा का पूरा भर जायेगा । वह तो एक दुःख और दर्द की कहानी है । उन कठिनाइयों की तुलना तो बखूबी रावण—हिन्दुओं के द्वितीय[1] महान कथा-ग्रंथ रामायण के राक्षस-प्रतिनायक, जिसे रामायण के चरित-नायक राम ने युद्ध कर के हराया था—के सिरों से की जा सकती है, जो बहुत-से थे और कटते ही फिर उग आते थे । उन्हें चार मुख्य शीर्षकों में बांटा जा सकता है—धन, मेरे बुज़ुर्गों की सहमति, सम्बन्धियों से जुदाई और जाति-बंधन ।

पहले धन की बात ले लें । यद्यपि मेरे पिता एक से ज़्यादा देशी रियासतों के दीवान रहे थे, उन्होंने कभी धन-संग्रह नहीं किया । उन्होंने जो कुछ कमाया, सब अपने बच्चों की शिक्षा, विवाहों और धर्मार्थ कार्यों में ख़र्च कर डाला । फलतः हमारे लिये बहुत पैसा नहीं बचा । वे कुछ अचल

---

[1]अन्य महान कथा-ग्रंथ है—महाभारत।

सम्पत्ति छोड़ गये थे और वही सब-कुछ थी। जब उनसे पूछा जाता था कि आपने अपने बच्चों के लिये कुछ बचाकर क्यों नहीं रखा, तो वे जवाब देते थे कि मेरे बच्चे ही मेरी सम्पत्ति हैं, और अगर मैं बहुत-सा रुपया जमा कर लूंगा तो बच्चे बिगड़ जायेंगे। इसलिये रुपये की कठिनाई मेरे सामने छोटी नहीं थी। मैंने राज्य से कुछ छात्र-वृत्ति पाने की कोशिश की, मगर मैं उसमें असफल रहा। एक जगह तो मुझसे कहा गया कि पहले स्नातक (ग्रैजुएट) बनकर अपनी योग्यता सिद्ध करो, फिर छात्रवृत्ति की अपेक्षा करना। अनु-भव मुझे बताता है कि जिन सज्जन ने यह बात कही थी, उन्होंने ठीक ही कहा था, परन्तु मैं किसी बात से विचलित नहीं हुआ। मैंने अपने सब से बड़े भाई से अनुरोध किया कि जो-कुछ भी धन बच गया है, वह सब इंग्लैण्ड में मेरी शिक्षा के लिये दे दें।

भारत में प्रचलित कुटुम्ब-प्रणाली

भारत में प्रचलित कुटुम्ब-प्रणाली का परिचय देने के लिये यहां थोड़ा-सा विषयान्तर किये बिना काम न चलेगा। भारत में, इंग्लैण्ड के विपरीत, लड़के हमेशा माता-पिता के साथ ही रहते हैं; लड़कियां विवाह तक रहती हैं। वे जो-कुछ कमाते हैं, वह पिता के हाथों में जाता है। इसी तरह जो-कुछ खोते हैं वह भी पिता का ही नुक़सान होता है। हां, भारी झगड़ा आदि की जैसी विशेष परि-स्थितियों में तो लड़के भी अलग हो ही जाते हैं, परन्तु ये अपवाद हैं। मेन की क़ानूनी भाषा में

"पश्चिम में सम्पत्ति साधारणतः व्यक्तिगत होती है; पूर्व में साधारणतः संयुक्त होती है।" सो मेरे पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं थी। सब-कुछ मेरे भाई के हाथ में था और हम सब एक-साथ रहते थे।

धन का प्रश्न

तो, फिर धन की बात। मेरे पिता जो थोड़ा-सा धन मेरे लिये छोड़ सके थे, वह मेरे भाई के हाथ में था। वह उनकी अनुमति से ही निकल सकता था। इसके अलावा, वह रुपया काफ़ी नहीं था, इसलिये मैंने कहा कि सारी पूंजी मेरी शिक्षा में लगा दी जाये। आपसे मैं पूछता हूं कि क्या यहां कोई भाई ऐसा करेगा ? भारत में भी ऐसे भाई बहुत कम हैं। उनसे कहा गया था कि पश्चिमी विचार ग्रहण करके मैं एक नालायक़ भाई साबित हो सकता हूं। और मुझसे रुपया तो तभी वापस मिल सकेगा जब मैं जीवित भारत लौट सकूं, जिसमें बहुत सन्देह व्यक्त किया गया था। परन्तु मेरे भाई ने ये सब उचित और सदाशयपूर्ण चेतावनियां सुनी-अनसुनी कर दीं। मेरे प्रस्ताव की स्वीकृति के लिये केवल एक शर्त रखी गई। वह शर्त यह थी कि मैं अपनी माता और चाचा की अनुमति प्राप्त कर लूं। मेरे भाई जैसे भाई बहुत लोगों के हों ! फिर मैं अपने हिस्से के काम में लगा। मैं आप को विश्वास दिलाता हूं कि वह काम बड़ा दुःसाध्य था। सौभाग्य से मैं अपनी मां का दुलारा था। उन्हें मुझ पर बहुत विश्वास

था। इसलिये मैं उनका अन्धविश्वास दूर करने में तो सफल हो गया; परन्तु मैं तीन वर्ष की जुदाई के लिये उनकी अनुमति कैसे प्राप्त कर सकता था ? तथापि, इंग्लैण्ड आने के फ़ायदों को अति-रंजित करके बताने पर मैंने उनको राज़ी कर लिया। फिर भी वे अनिच्छापूर्वक राज़ी हुईं। अब रही चाचा की बात। वे बनारस तथा अन्य तीर्थों को जाने के लिये तैयार थे। तीन दिन लगातार समझाने और मनाने के बाद मैं उनसे यह उत्तर पा सका :

"मैं तो तीर्थयात्रा के लिये जा रहा हूं। तुम जो-कुछ कह रहे हो वह ठीक हो सकता है; परन्तु मैं तुम्हारे अधार्मिक प्रस्ताव पर राज़ी-ख़ुशी से 'हां' कैसे कह सकता हूं ? मैं तो सिर्फ़ इतना कह सकता हूं कि अगर तुम्हारी माताको जाने पर कोई आपत्ति नहीं है तो मुझे दख़ल देने का कोई अधिकार नहीं।"

इसका अर्थ 'हां' लगा लेना कठिन नहीं हुआ। परन्तु मुझे इन दो व्यक्तियों को ही राज़ी नहीं करना था। भारत में कोई कितना ही दूर का संबंधी क्यों न हो, हरएक समझता है कि उसे दूसरे के मामलों में दख़ल देने का एक हक़ है। परन्तु जब मैंने इन दो से इनकी सम्पत्ति निचोड़ ली (क्योंकि वह 'निचोड़ने' के अलावा और कुछ न था), तब आर्थिक कठिनाइयां लगभग मिट गईं।

पत्नी के माता-पिता का विरोध

दूसरे शीर्षक की कठिनाइयों की आंशिक

चर्चा ऊपर हो चुकी है। आपको शायद यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मैं विवाहित हूं। (विवाह बारह वर्ष की उम्र में हुआ था)। इसलिये अगर मेरी पत्नी के माता-पिता ने सोचा कि उन्हें—केवल अपनी लड़की के हित के लिये ही सही—मेरे मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार है, तो उनका क्या दोष? मेरी पत्नी की देख-भाल करनेवाला कौन था? वह तीन वर्ष कैसे काटेगी? आई मेरे भाई पर—वे उसकी देख-भाल करेंगे! बेचारे भाई! अगर श्वशुर की नाराज़गी का असर मेरी मां और मेरे भाई पर पड़नेवाला न होता तो अपने उस समय के विचारों के अनुसार मैं उनकी न्यायोचित आशंकाओं और गुर्राहट की परवाह न करता। अपने श्वशुर के साथ एक के बाद एक रात बैठना, उनकी आपत्तियां सुनना और उनका सफलतापूर्वक जवाब देना कोई सरल काम नहीं था। परन्तु "धीरज और परिश्रम से पहाड़ भी कट जाता है"—यह पुरानी कहावत मुझे इतनी अच्छी तरह सिखाई गई थी कि मैं पीछे हटनेवाला नहीं था।

विदाई

जब मुझे रुपया और आवश्यक अनुमति मिल गई तब मैं सोचने लगा—"यह सब जो मुझे इतना प्यारा है और मेरे इतने नज़दीक है, इससे जुदा होने के लिये अपने मन को कैसे समझाऊं?" हम भारतीय जुदा होना पसन्द नहीं करते। जब मुझे थोड़े ही दिनों के लिये घर से जाना पडा था

तभी मेरी मां रोया करती थीं। तो अब मैं अपने आवेग से मुक्त रह कर ये हृदय-विदारक दृश्य कैसे देखूंगा ? मेरे मन को जो वेदना सहनी पड़ी, उसका वर्णन करना असंभव है। जब विदाई का दिन नज़दीक आया तो मैं क़रीब-क़रीब बेहाल हो उठा। परन्तु मैंने बुद्धिमत्ता की कि अपने परम प्रिय मित्रों को भी यह बात नहीं बताई। मैं जानता था कि मेरा स्वास्थ्य जवाब दे रहा है। सोते, जागते, खाते, पीते, चलते, दौड़ते, पढ़ते, मैं इंग्लैंड के ही स्वप्न देखता, उसके ही विचार में डूबा रहता और सोचता रहता कि विदाई के उस गुरुतम दिन मैं क्या करूंगा। आख़िर वह दिन आ पहुंचा। एक ओर मेरी मां अपनी आंसू भरी आंखों को हाथों में छिपाये थीं, परन्तु उनके सिसकने की आवाज़ साफ़ सुनाई पड़ रही थी; दूसरी ओर मैं क़रीब-क़रीब पचास मित्रों के बीच में था। मैंने मन में कहा—"अगर मैं रोया तो ये लोग मुझे बहुत दुर्बल समझेंगे; शायद मुझे इंगलैंड जाने भी न देंगे।" इसलिये, यद्यपि मेरा हृदय फट रहा था, मैं रोया नहीं। अन्त में अपनी पत्नी से बिदा लेने का मौक़ा आया। यह मौक़ा अन्त में भले ही आया हो, किन्तु महत्त्व में अन्तिम नहीं था। मित्रों की उपस्थिति में पत्नी से बात-चीत करना रिवाज के विरुद्ध होता। इसलिये मुझे उससे एक अलग कमरे में मिलना पड़ा। निस्संदेह उसने बहुत पहले से ही सिसकना शुरू कर दिया था। मैं उसके पास गया और क्षण भर के लिये गूंगी प्रतिमा के समान उसके सामने खड़ा रहा। मैंने उसका चुम्बन किया

और उसने कहा : "जाओ मत!" इसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन करने की ज़रूरत नहीं। यह सब तो हो गया, मगर मेरी चिन्ताओं का अन्त नहीं हुआ। यह तो अन्त का आरम्भ मात्र था। विदा लेने का काम सिर्फ़ आधा निबटा था। मां और पत्नी से तो राजकोट में ही (जहां मैंने शिक्षा पाई थी) विदा ले चुका था, मगर मेरे भाई और दूसरे लोग मुझे विदा करने के लिये बम्बई तक आये थे। वहाँ जो दृश्य उपस्थित हुआ, वह कम मर्मस्पर्शी नहीं था।

जाति-भाइयों से टक्कर

बम्बई में मेरे जाति-भाइयों के साथ जो टक्करें हुई, उनका वर्णन करना दुःसाध्य है, क्योंकि बम्बई उनका मुख्य अड्डा है। राजकोट में मुझे ऐसे किसी नामलायक़ विरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। बम्बई में दुर्भाग्यवश मुझे शहर के बीच में रहना पड़ा। वहीं उनकी सबसे ज़्यादा बस्ती थी। इसलिये मैं चारों ओर से घिरा हुआ था। किसी न किसी के घूरने और अंगुली उठाने से बचकर मेरा बाहर निकलना भी संभव नहीं था। एक बार तो, जब मैं टाउनहाल के पास से गुज़र रहा था, लोगों ने मुझे घेर लिया था और मुझ पर हू-हा की बौछार की थी। बेचारे मेरे भाई को चुपचाप यह सब दृश्य देखना पड़ा। पराकाष्ठा तब हुई जब जाति के मुख्य प्रतिनिधियों ने एक विराट सभा का आयोजन किया। जाति के हर आदमी को सभा में बुलाया गया और जो न

आये उसे पांच आने जुर्माने की धमकी दी गई। यहां मैं बता दूं कि इस कार्रवाई का निश्चय करने के पहले उनके कई शिष्टमंडलों ने आ-आकर मुझे परेशान किया था। परन्तु वे असफल रहे थे। इस विशाल सभा में मुझे श्रोताओं के बीचों बीच बैठाया गया। जाति के प्रतिनिधियों ने, जिन्हें 'पटेल' कहा जाता है, मुझे ख़ूब सख़्त-सुस्त सुनाई। मेरे पिताजी के साथ अपने संबंधों की याद भी दिलाई। मैं कह सकता हूं कि यह सब मेरे लिये एक अनोखा अनुभव था। उन्होंने अक्षरशः मुझे एकान्त स्थान से घसीट कर सबके बीच में बैठाया था, क्योंकि मैं तो ऐसी बातों का अभ्यस्त नहीं था। इसके अलावा, परले दर्जे के शरमीले स्वभाव के कारण मेरी स्थिति और भी संकटापन्न हो गई थी। आख़िर, यह देखकर कि डांट-फटकार का मुझ पर कोई असर नहीं हुआ, मुख्य पटेल ने मुझसे इस आशय की बातें कहीं—"तुम्हारे पिता हमारे दोस्त थे, इसीलिये हमें तुम पर दया आती है। तुम जानते हो, जाति के मुखियों के नाते हममें कितनी शक्ति है। हम ठीक-ठीक जानते हैं कि इंग्लैंड तुम्हें मांस खाना पड़ेगा, और दारू पीनी पड़ेगी। इसके अलावा, तुम्हें समुद्र पार जाना है। तुम्हें मालूम होना चाहिये कि यह सब हमारे जाति-नियमों के ख़िलाफ़ है। इसलिये हम तुम्हें हुक्म देते हैं कि अपने फ़ैसले पर फिर से सोच-विचार कर लो। नहीं तो, तुम्हें भारी से भारी सज़ा दी जायेगी। तुम्हें क्या कहना है ?"

मैंने इन शब्दों में जवाब दिया : "आपकी

ताक़ीदों के लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। मगर अफ़सोस है कि मैं अपना फ़ैसला बदल नहीं सकता। मैंने इंग्लैंड के बारे में जो-कुछ सुना है वह आप जो कुछ कह रहे हैं उससे बिलकुल भिन्न है। वहां ज़रूरी नहीं कि मांस-मदिरा का सेवन करना ही पड़े। और जहां तक समुद्र पार करने की बात है, अगर हमारे भाई-बन्द अदन जा सकते तो मैं इंग्लैंड क्यों नहीं जा सकता? मुझे पक्का यक़ीन हो गया है कि इन सब आपत्तियों के पीछे ईर्ष्या काम कर रही है।"

लायक़ पटेल ने ग़ुस्से से जवाब दिया: "तो, ठीक है। तुम अपने बाप के बेटे नहीं हो।" फिर श्रोताओं की ओर मुख करके उसने कहा: "इस लड़के ने अपना होश खो दिया है। हम हरएक को आज्ञा देते हैं कि इसके साथ कोई वास्ता न रखा जाये। जो इसको किसी भी तरह से मदद करेगा, या इसे विदा करने जायेगा उसे जाति से निकाल दिया जायेगा। और अगर यह लड़का कभी लौटकर आ सके तो इसे बता दिया जाये कि यह फिर से कभी जाति में नहीं लिया जायेगा।"

मेरे भाई का मन डांवाडोल

ये शब्द लोगों पर वज्र जैसे पड़े। अब तो उन थोड़े-से चुने हुए लोगों ने भी मुझे छोड़ दिया, जो गाढ़े समय में भी मेरा साथ देते आये थे। मेरा बड़ा मन था कि उस छुकरपन की धमकी का जवाब दूं, मगर मेरे भाई ने मुझे रोक लिया। इस तरह मैं उस अग्नि-परीक्षा

से सकुशल निकल तो आया, मगर मेरी स्थिति पहले से भी बदतर हो गई। स्वयं मेरे भाई का मन भी डांवाडोल होने लगा, हालांकि यह क्षण भर के लिये ही था। उनको यह धमकी याद आई कि वे मुझे जो धन की सहायता करेंगे उससे उन्हें अपना पैसा ही नहीं, बल्कि बिरादरी भी खो देनी पड़ेगी। इसलिये उन्होंने रूबरू मुझ से तो कुछ नहीं कहा, मगर अपने कुछ मित्रों से कहा कि वे मुझे या तो अपने निर्णय पर फिर से विचार करने को या क्षोभ ठंडा पड़ने तक के लिये उसे स्थगित कर देने को समझायें। मेरा जवाब तो सिर्फ़ एक ही हो सकता था। और उसके बाद उन्होंने कभी पसोपेश नहीं किया। और, सच-मुच तो, उन्हें जाति-बहिष्कृत भी नहीं किया गया। मगर बात यहां ख़त्म नहीं हुई। जाति-वालों की कारस्तानियां बराबर चलती रहीं। इस बार वे क़रीब-क़रीब सफल हो गये, क्योंकि उन्होंने मेरा जाना एक पखवारे के लिये मुलतवी करा दिया। यह उन्होंने इस तरह किया : हम एक जहाज़ कम्पनी के कप्तान से मिलने गये। उससे यह कह देने का अनुरोध किया गया था कि समुद्र में तूफ़ानी मौसम होने के कारण उस समय—अगस्त में—रवाना होना मुनासिब न होगा। मेरे भाई सब बातें मानने को तैयार थे, मगर तूफ़ानी मौसम में रवाना होने देने को तैयार न थे। दुर्भाग्य से मेरे लिये यह पहली ही समुद्र-यात्रा थी। इसलिये यह भी कोई नहीं जानता था कि मैं आराम से समुद्र-यात्रा कर सकता हूँ

या नहीं। इस तरह मैं लाचार हो गया। अपनी इच्छा के बहुत ख़िलाफ़ मुझे अपनी रवानगी स्थगित कर देनी पड़ी। मुझे तो लगा कि सारा बना-बनाया खेल बिगड़ जायेगा। मेरे भाई अपने एक मित्र के नाम एक चिट्ठी छोड़ कर, जिसमें उनसे अनुरोध किया गया था कि समय आने पर मुझे किराये का पैसा दे दें, वापस चले गये। जुदाई का दृश्य वैसा ही था, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है।

इंग्लैण्ड के लिये रवाना

अब मैं बम्बई में अकेला रह गया। जहाज़ के किराये के लिये पैसा नहीं था। वहां मुझे जितना ठहरना पड़ा, उसका एक-एक घंटा एक-एक वर्ष जैसा मालूम होता था। इसी बीच मैंने सुना कि एक और भारतीय सज्जन[१] भी इंग्लैण्ड जा रहे हैं। यह तो मेरे लिये ईश्वर-प्रेरित समाचार था। मैंने सोचा, अब मुझे जाने दिया जायेगा। मैंने उस चिट्ठी का उपयोग किया, परन्तु भाई के मित्र ने मुझे रुपया देने से इनकार कर दिया। मुझे चौबीस घंटों के अन्दर तैयारी करनी थी। इसलिये मैं भयानक बेचैनी में था। रुपये बिना ऐसा महसूस करता था मानो मैं पंखहीन पक्षी होऊँ। ऐसे समय में एक मित्र मदद को आ गये और उन्होंने मार्ग-व्यय दे दिया। उन्हें तो मैं हमेशा ही धन्यवाद दूंगा। मैंने टिकट ख़रीद लिया, अपने

---

[१]मजमुदार।

भाई को तार दे दिया और ४ सितंबर, १८८८ को मैं इंग्लैण्ड के लिये रवाना हो गया। इस तरह की थीं, मेरी मुख्य कठिनाइयां, जो लगभग पांच माह तक चलती रहीं। वह समय भयानक चिन्ता और मनस्ताप का था। कभी आशा और कभी निराशा के बीच, हमेशा अधिक से अधिक प्रयत्न करता हुआ, और इष्ट लक्ष्य दिखाने के लिये ईश्वर पर निर्भर हो कर, मैं अपनी गाड़ी खींचता रहा। (अंग्रेज़ी से)

—*वेजिटेरियन : १३-६-१८९१*

: २४ :

मांसाहार की समस्या

प्रश्न : इंग्लैण्ड पहुंचने पर तो आप को मांसाहार की समस्या का प्रत्यक्ष सामना करना पड़ा होगा, आप ने उसको कैसे हल किया ?

उत्तर : मैं बेमांगे उपदेशों के भार से दब गया था। सदाशयी, किन्तु अनजान मित्र अपनी सलाहें अनिच्छुक श्रवण-पुटों में ठूंसते रहे थे। उनमें से ज़्यादातर ने तो यह कहा था कि ठंडी आबहवा में तुम्हारा काम मांस के बिना नहीं चलेगा। तुम्हें क्षय-रोग हो जायेगा। श्री 'ज़ेड' इंग्लैण्ड गये थे और वे अपनी मूर्खता-पूर्ण वीरता के कारण क्षय-रोग के शिकार हो गये थे। दूसरे लोगों ने कहा कि तुम मांस के बिना तो रह सकते हो, मगर शराब के बिना घूम-फिर नहीं सकते। सर्दी से जकड़ जाओगे। एक ने तो यहां तक उपदेश

दे डाला कि तुम व्हिस्की की आठ बोतलें साथ रख लो, क्योंकि अदन से आगे जाने के बाद तुम्हें उसकी ज़रूरत पड़ सकती है। एक अन्य सज्जन ने धूम्र-पान की सलाह दी, क्योंकि उनका मित्र इंग्लैण्ड में धूम्र-पान के लिये बाध्य हो गया था। इंग्लैण्ड होकर आये हुए डाक्टर तक यही कहानी सुनाते थे। मैंने जवाब दिया कि मैं इन सब चीज़ों को टालने की ज़्यादा से ज़्यादा कोशिश करूँगा। परन्तु यदि ये बिलकुल ज़रूरी ही मालूम हुईं तो मैं नहीं जानता क्या करूँगा। मैं यहां कह दूं कि उस समय मांस से मुझे इतनी चिढ़ नहीं थी, जितनी कि आज है। जिन दिनों मैंने अपने लिये सोचने का अधिकार अपने मित्रों को दे रखा था, उन दिनों मैं छः या सात बार मांस खाने के चक्कर में पड़ भी चुका था। परन्तु जहाज़ में मेरे विचार बदलने लगे थे। मैंने सोचा कि मुझे किसी भी कारण से मांस नहीं खाना चाहिये। मेरी मां ने मुझे यहां आने की अनुमति देने के पूर्व मुझसे मांस न खाने का वचन ले लिया था। और कुछ नहीं तो उस वचन से ही मैं मांस न खाने को बँधा हुआ था। जहाज़ के सह-यात्री हमें (मुझे और मेरे साथ के मित्र को) सलाह देने लगे कि ज़रा परीक्षा करके तो देखो।

उनका कहना था कि तुम्हें अदन छोड़ने के बाद उसकी ज़रूरत पड़ेगी। जब यह ग़लत सिद्ध हो गया तो फिर बताया गया कि लाल समुद्र पार करने के बाद ज़रूरत होगी। और जब यह भी झूठा हुआ तो एक यात्री ने कहा : "अभी

तक मौसम बहुत उग्र नहीं रहा, परन्तु बिस्के की खाड़ी में आप को मौत और मांस-मदिरा में से एक को पसन्द करना होगा।" वह संकट का मौक़ा भी सकुशल बीत गया। लंदन में भी मुझे ऐसी डांट-फटकारें सुननी पड़ी थीं। महीनों तक मेरी भेंट किसी अन्नाहारी से नहीं हुई। मैंने एक मित्र के साथ अन्नाहार की पर्याप्तता के विषय में बहस करते हुए कई दिन चिन्ता में बिताये। परन्तु उस समय अन्नाहार के पक्ष में मुझे जीव-दया की दलीलों को छोड़ कर और किन्हीं दलीलों का ज्ञान नहीं था। दूसरी ओर, मेरे मित्र ने ऐसी बहसों में जीव-दया के विचार को तिरस्कारपूर्वक अस्वीकार कर दिया। अतएव मुझे हार खानी पड़ी। आख़िर-कार मैंने यह कहकर उसका मुंह बन्द किया कि मैं मर जाना पसन्द करूँगा, परन्तु अपनी माता को दिया हुआ वचन नहीं तोड़ूंगा। "छि:!" उसने कहा, "बचपन! घोर अन्धविश्वास! परन्तु यहां आने पर भी तुम में इतना अन्धविश्वास क़ायम है कि तुम इन बेवक़ूफ़ियों में विश्वास करते हो, तो अब मैं तुम्हारी ज़्यादा मदद नहीं कर सकता। काश! तुम इंग्लैण्ड आये ही न होते!"

अन्नाहार सैद्धान्तिक रूप में

बाद में, शायद एक बार को छोड़कर उसने फिर कभी उस बात पर गंभीरता से ज़ोर नहीं दिया, हालांकि तब से उसने कभी भी मुझे मूर्ख से बेहतर नहीं माना। इसी बीच मुझे याद आया

कि एक बार में एक अन्नाहारी जलपान-गृह के पास से निकला था (वह "पारिज बाउल" था)। मैंने एक आदमी से वहां का रास्ता पूछा, मगर वहां पहुंचने के बदले, मैंने "सेंट्रल" जलपान-गृह देखा और वहां जाकर पहली बार थोड़ा-सा दलिया खाया। वह तो मुझे अच्छा नहीं लगा, मगर दूसरे परोसे में जो 'पाई' (आटे की पतली परतों के बीच कुचले हुए फलों की मोटी परत भरकर सेंकी गई मीठी रोटी) दी गई, वह मुझे पसन्द आई। वहीं से सबसे पहले कुछ अन्नाहारी साहित्य लाया। उसमें एक प्रति एच० एस० साल्ट कृत 'ए प्ली फ़ार वेजिटेरियनिज़्म' (अन्नाहार की हिमायत) की भी थी। उसे पढ़ने के बाद मैंने अन्नाहार को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार कर लिया।

तबतक मैं मांस को वैज्ञानिक दृष्टि से ज़्यादा आहार समझता था। इस के अलावा, उसी जल-पान-गृह में मुझे मालूम हुआ था कि मैंचेस्टर में एक अन्नाहारी संघ है, परन्तु मैंने उस में कोई सक्रिय दिलचस्पी नहीं ली। मैं कभी-कभी *वेजिटेरियन मेसेंजर* पढ़ लिया करता था, इससे अधिक कुछ नहीं। *वेजिटेरियन* की जानकारी तो मुझे एक-डेढ़ वर्ष से ही है। ऐसा कहा जा सकता है कि लंदन के अन्नाहारी संघ की जानकारी मुझे अन्तर्राष्ट्रीय अन्नाहारी कांग्रेस में हुई थी। कांग्रेस की बैठक की सूचना मुझे श्री जोशाया ओल्डफ़ील्ड के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। उन्होंने एक मित्र से मेरे बारे में सुना था और मुझसे

कांग्रेस में शामिल होने को कहा था। अन्त में मुझे कहना होगा कि इंग्लैण्ड में लगभग तीन वर्ष रहकर मैंने कई काम नहीं किये, और कई काम ऐसे किये हैं, जिन्हें शायद न करता तो अच्छा होता। फिर भी मुझे यह एक महान संतोष है कि मैंने शराब और मांस का सेवन नहीं किया; उनसे बचकर भारत लौट रहा हूँ। और अपने व्यक्तिगत अनुभव से जानता हूँ कि इंग्लैण्ड में इतने-बहुत अन्नाहारी मौजूद हैं। (अंग्रेज़ी से)

—*वेजिटेरियन* : २०-६-१८९१

: २५ :

स्वदेश वापसी के मार्ग में

इंग्लैण्ड में तीन वर्ष रहने के बाद १२ जून, १८९१ को मैं बम्बई के लिये रवाना हुआ। दिन बड़ा सुहावना था। सूर्य की उज्ज्वल धूप फैली हुई थी। हवा के ठंडे झकोरों से बचने के लिये ओवरकोट की ज़रूरत नहीं थी।

पौने बारह बजे मुसाफ़िरों की एक्सप्रेस रेलगाड़ी लिवरपूल स्ट्रीट स्टेशन से जहाज़-घाट के लिये रवाना हुई।

जबतक मैं पी० एन्ड ओ० कम्पनी के जहाज़ *ओशियाना* में सवार नहीं हो गया, मुझे विश्वास ही नहीं होता था कि मैं भारत जा रहा हूँ। इतना मेरा लंदन और उसके वातावरण से अनुराग

हो गया था; क्योंकि ऐसा कौन है, जिसका न हो जायेगा ? वहां जो शिक्षा-संस्थाएँ, सार्वजनिक कलाभवन, अजायबघर, नाटकघर, अपार वाणिज्य, सार्वजनिक बाग़ और अन्नाहारी जलपान-गृह हैं उनके कारण वह विद्यार्थियों, यात्रियों, और जिन्हें विरोधी लोग 'ख़फ़्ती' कह-कर पुकारते हैं, उन अन्नाहारियों के लिये एक योग्य स्थान है। इसलिये मैं गहरे अफ़सोस के बिना प्यारे लंदन से विदाई नहीं ले सका। साथ ही मुझे ख़ुशी भी थी कि इतने लम्बे अरसे के बाद में भारत पहुंच कर अपने मित्रों और संबंधियों से मिलूंगा।

ओशियाना एक आस्ट्रेलियाई जहाज़ है। उसकी गिनती कम्पनी के सबसे बड़े जहाज़ों में है। उसका वज़न ६,१८८ टन और शक्ति १,२०० हार्सपावर है। इस तैरते हुए विशाल द्वीप में सवार होने पर हमें अच्छी, ताज़गीदेह चाय और नाश्ता दिया गया, जिस पर तमाम यात्रियों और उनके मित्रों ने समान रूप से जी भर के हाथ साफ़ किया। यह बता देना ज़रूरी है कि चाय-नाश्ता मुफ़्त दिया गया था। उस समय जिस इतमीनान से लोग चाय पी रहे थे उसे देखकर अनजान व्यक्ति तो यही समझता कि वे सभी यात्री हैं (और उनकी संख्या काफ़ी बड़ी थी)। परन्तु जब घंटी बजाकर यात्रियों के मित्रों को सूचना दी गई कि जहाज़ लंगर उठाने-वाला है, तो वह संख्या बहुत-कुछ क्षीण हो गई। जब जहाज़ बन्दरगाह से चला तो ढाढ़स बँधाने और उत्साहित करने के उद्‌गारों का समां बँध

गया और जहां-तहां रूमालें लहराई जाने लगीं।

ओशियाना बनाम आसाम जहाज़

बम्बई जानेवाले यात्रियों को अदन में *ओशियाना* छोड़कर *आसाम* जहाज़ पर बैठना था। इसलिये दोनों जहाज़ों का फ़र्क़ बता देना ठीक होगा। *ओशियाना* में हज़ूरिये (वेटर) अंग्रेज़ थे। वे सदा साफ़-सुथरे और उपकार करने को तत्पर रहते थे। दूसरी ओर, *आसाम* जहाज़ के हज़ूरिये पुर्तगीज़ थे, जो बात-बात में टकसाली अंग्रेज़ी की हत्या करते और सदैव अस्वच्छ रहते थे। वे घुन्ने और मन्द भी थे।

इसके अलावा, दोनों जहाज़ों में दिये जाने-वाले भोजन की क़िस्म में भी फ़र्क़ था। *आसाम* के यात्री जिस तरह असंतोष प्रकट करते रहते थे, उससे यह साफ़ था। और यही बस नहीं था। *ओशियाना* में *आसाम* की अपेक्षा जगह भी अच्छी थी। परन्तु उसका तो कोई इलाज कंपनी के पास नहीं था। अंग्रेज़ों का जहाज़ अच्छा है, इसलिये अपने जहाज़ को वह फ़ेंक तो नहीं दे सकती।

अन्नाहारियों ने जहाज़ में कैसे काम चलाया, यह सवाल मौज़ूं होगा।

अन्नाहारी तो मुझे मिलाकर सिर्फ़ दो ही थे। हम दोनों अगर कुछ बेहतर न मिले तो उबले हुए आलू, गोभी और मक्खन से काम चला लेने को तैयार थे। परन्तु हमें उस हदतक जाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। भला कारिन्दा (स्टयूअर्ड) हमें शाक-सब्ज़ी, चावल, भाप में पकाये हुए और ताज़े फल पहले दर्जे के भोजन-गृह से लाकर

दे देता था। और बड़ी बात तो यह है कि वह हमें चोकरदार आटे की डबल रोटी (ब्राउन ब्रेड) भी दे देता था। इस तरह, जो भी ज़रूरी था, सबकुछ हमें मिल जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि मुसाफ़िरों को भोजन देने में जहाज़ के लोग बड़े उदार होते हैं। बात इतनी ही है कि वे अति कर देते हैं। कम से कम मुझे तो ऐसा ही मालूम होता है।

दूसरे दर्जे के भोजन की सूची

दूसरे दर्जे के भोजन-गृह की खाद्य-सूची में क्या-क्या होता है, और यात्रियों को कितनी बार भोजन दिया जाता है, इसका वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

पहले तो औसत दर्जे के यात्री को एक-दो प्याले चाय और कुछ बिस्कुट दिये जाते हैं। यह बिलकुल सुबह की पहली चीज़ होती है। साढ़े आठ बजे सुबह नाश्ते की घंटी होती है और यात्री भोजनशाला में पहुँच जाते हैं। और कुछ हो-न-हो, भोजन के समय तो वे ठीक मिनट-मिनट समय का पालन करते ही हैं। नाश्ते की सूची में आम तौर पर जई का दलिया, कुछ मछली, मांस, सब्ज़ी, मुरब्बा, डबल रोटी, मक्खन, चाय या काफ़ी आदि होती है। प्रत्येक वस्तु इच्छानुसार ली जा सकती है।

मैंने अक्सर यात्रियों को दलिया, मछली और 'करी' (मसालेदार मांस) खाते और डबल रोटी तथा मक्खन को दो-तीन प्याले चाय से

पेट में उतारते देखा है ।

हमें नाश्ते को हज़म करने का समय भी मुश्किल से मिल पाता कि डेढ़ बजे दुपहर को फिर से भोजन की घंटी बज जाती थी । दुपहर का भोजन भी उतना ही अच्छा होता था, जितना कि नाश्ता । उसमें यथेष्ट मांस और शाक, चावल, सालन और रोटी आदि वस्तुएं होती थीं । किसी चीज़ की कमी दिखलाई न पड़ती । हफ़्ते में दो दिन दूसरे दर्जे के यात्रियों को साधारण भोजन के अलावा फल आदि दिये जाते थे । परन्तु यह भी बस नहीं था । भोजन का माल-मसाला इतना सुपाच्य होता था कि चार बजे शाम को हमें ताज़गी देनेवाले चाय के प्याले और कुछ बिस्कुटों की ज़रूरत महसूस होती थी । परन्तु शाम की हवा चाय के उस "छोटे-से प्याले" का सारा असर इतनी जल्दी हर लेती कि साढ़े छः बजे हमें अच्छे-ख़ासे नाश्ते के साथ चाय दी जाती—जिसमें डबल रोटी, मक्खन, फलों के मुरब्बे, सलाद, मांस, चाय, काफ़ी आदि होती थी । समुद्र की हवा इतनी स्वास्थ्यवर्धक मालूम होती थी कि यात्रीगण थोड़े-से, बिलकुल ही थोड़े (सिर्फ़ आठ या दस—ज़्यादा से ज़्यादा पंद्रह) बिस्कुट, थोड़ा-सा पनीर और थोड़ी-सी अंगूरी शराब या बीयर लिये बिना सोने नहीं जा सकते थे । इस सब की दृष्टि से क्या निम्नलिखित पंक्तियां बिलकुल सही नहीं हैं ?

"तुम्हारा जठर ही तुम्हारा भगवान है, तुम्हारा उदर ही तुम्हारा मंदिर है, तुम्हारी तोंद ही तुम्हारी वेदी है,

तुम्हारा रसोइया ही तुम्हारा पुरोहित है ।. . . .तुम्हारा प्रेम पकाने के बर्तनों में ही उद्दीप्त होता है, तुम्हारी श्रद्धा रसोईघर में ही तीव्र होती है, तुम्हारी सारी आशा मांस की थालियों में ही छिपी रहती है । . . . .बार-बार दावतें देनेवाले के बराबर, उत्तम भोजन करानेवाले के बराबर, अभ्यस्त स्वास्थ्य-पान करनेवाले के बराबर तुम्हारे आदर का पात्र कौन है ?"

दूसरे दर्जे का सलून सब तरह के यात्रियों से काफ़ी भरा था । उस में सैनिक, धर्मोपदेशक, नाई, खलासी, विद्यार्थी, सरकारी कर्मचारी और, हो सकता है, साहसिक भी थे । तीन या चार महिलाएं थीं । हम अपना समय खास तौर से खाने-पीने में बिताते थे । बाक़ी समय या तो ऊँघने में बिताया जाता था या गपशप में और कभी-कभी बहस करने, खेलने आदि में । मगर दो या तीन दिन के बाद बहसों, पत्तों और दूसरों की निन्दा के कार्यक्रमों के बावजूद भोजनों के बीच का समय बहुत भारी मालूम होने लगा ।

हममें से कुछ लोगों को कुछ करने का उत्साह हुआ । उन्होंने गाने-बजाने, रस्साकशी और दौड़ की प्रतियोगिताओं और उनमें इनाम देने का आयोजन किया । एक शाम व्याख्यानों और गाने-बजाने के लिये रखी गई ।

मैंने सोचा, मानें न मानें, अब मेरे हाथ डालने का समय आ गया है । मैंने आयोजक समिति के सेक्रेटरी से अन्नाहार के विषय में एक छोटा-सा भाषण करने के लिये पाव घंटे का समय मांगा । सेक्रेटरी ने बड़े अनुग्रह के भाव से सिर

हिला कर हामी भर दी।

तो, मैंने डटकर तैयारी की। मुझे जो भाषण देना था उसे मैंने सोचा, लिखा और एक बार दुहरा कर लिख डाला। मैं भली-भांति जानता था कि मुझे विरोधी श्रोताओं का सामना करना है और यह सावधानी रखनी पड़ेगी कि मेरा भाषण सुनते-सुनते लोग ऊँघने न लगें। सेक्रेटरी ने मुझसे कहा था कि मैं विनोदमय भाषण करूँ। मैंने उसे बताया कि मेरा घबरा जाना तो सम्भव है, परन्तु विनोदमय भाषण करना मुझे आता ही नहीं।

ज़रा सोचिये, उस भाषण का क्या हुआ होगा? गाने-बजाने का दूसरा कार्य-क्रम हुआ ही नहीं और, इस तरह, वह भाषण भी कभी नहीं हुआ। इससे मुझे बहुत व्यथा हुई। मेरा ख़्याल है, इसका कारण यह था कि पहली शाम को कार्यक्रम में कोई भी रस लेता दिखलाई नहीं पड़ा, क्योंकि हमारे दूसरे दर्जे में पैटी[1] जैसे गायक और ग्लैडस्टन जैसे वक्ता तो थे ही नहीं।

फिर भी, मैं दो या तीन यात्रियों के साथ अन्नाहार पर बातचीत करने में सफल हुआ। उन्होंने मेरी बात शान्ति से सुनी और, सारांश में, यह जवाब दिया: "हमने मान लिया कि आपकी दलील सही है। परन्तु जबतक हमें अपने वर्तमान आहार में मज़ा मिलता है, तबतक हम आपके आहार का प्रयोग नहीं कर सकते (अपने आहार से कभी-कभी हमें मन्दाग्नि हो जाती हो तो भी

[1] उस समय का एक प्रसिद्ध इतालवी गायक।

कोई हर्ज नहीं) ।”

उनमें से एक ने जब देखा कि मुझे और मेरे अन्नाहारी मित्र को रोज़ अच्छे-अच्छे फल मिलते हैं, तब उसने अन्नाहार का प्रयोग ज़रूर किया, परन्तु उसके लिये मांस का प्रलोभन बहुत बड़ा था।

बेचारा ! (अंग्रेज़ी से)

—वेजिटेरियन : ६-४-१८६१

नाटक और नाच

इसके अलावा, यात्रियों के बीच मेलजोल का भाव रहता था और पहले दर्जे के यात्री सौजन्य का व्यवहार करते थे। उदाहरण के लिये, पहले दर्जे के यात्री समय-समय पर नाटक और नाच किया करते थे और उनमें अक्सर दूसरे दर्जे के यात्रियों को आमन्त्रित किया जाता था।

पहले दर्जे में कुछ बहुत भले स्त्री-पुरुष थे। परन्तु, बिना किसी झगड़े के, सिर्फ़ खेल ही खेल में मज़ा नहीं आता था, इसलिये एक शाम कुछ यात्रियों ने शराब पीकर मतवाले हो जाना पसंद किया (क्षमा कीजिए, सम्पादकजी, वे शराब तो हर शाम ही पीते थे, मगर इस ख़ास शाम को वे पीकर आपे से बाहर हो गये थे)। मालूम होता है, वे व्हिस्की की चुसकियां लेते हुए आपस में बहस कर रहे थे कि उनमें से कुछ लोगों ने अनुचित शब्दों का प्रयोग कर दिया। इस पर तू-तू मैं-मैं शुरू हो गई, और बाद में लोग घूंसे-बाज़ी पर उतर आये। आख़िरकार कप्तान के

पास शिकायत गई । उसने इन मुक्केबाज़ भद्र पुरुषों को आड़े हाथों लिया और उसके बाद फिर कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ ।

इस तरह अपने समय को खाने-पीने और मनोरंजन में बांटकर हम आगे बढ़ते रहे ।

जिब्राल्टर, माल्टा, ब्रिंडिसी, पोर्ट सईद

दो दिन की यात्रा के बाद जहाज़ जिब्राल्टर के पास से निकला, मगर किनारे पर नहीं गया । हममें से कुछ लोगों ने आशा की थी कि वह वहां रुकेगा । परन्तु जब रुका नहीं तो ख़ास तौर से तम्बाकू पीने वाले बड़े हताश हुए । उन्होंने वहाँ बिना चुंगी की सस्ती तम्बाकू ख़रीदने के मंसूबे बांध रखे थे ।

इसके बाद हम माल्टा पहुंचे । वह कोयला लेने का स्थान है, इसलिये जहाज़ वहां कोई नौ घंटे तक ठहरता है । इस बीच लगभग सभी यात्री बस्ती देखने चले गये ।

माल्टा एक सुन्दर द्वीप है, जहां लंदन का जैसा धुआं छाया नहीं रहता । घरों की बनावट भी भिन्न है । हमने गवर्नर का महल देखा । शस्त्रागार तो देखने ही लायक़ है । वहां नेपोलियन की गाड़ी प्रदर्शित की गई है । कुछ सुन्दर चित्र भी देखने को मिलते हैं । बाज़ार बुरा नहीं है । फल सस्ते हैं । गिरजाघर बड़ा भव्य है ।

हम एक सवारी पर छः मील की बड़ी आनन्ददायक सैर करते हुए संतरे के बाग़ पहुँचे । वहां संतरे के हज़ारों पेड़ थे और कुछ पानी के टाँके थे, जिनमें सुनहली मछलियां पली हुई थीं ।

सवारी बड़ी सस्ती थी—सिर्फ़ ढाई शिलिंग।

भिखमंगों के कारण माल्टा कितनी रद्दी जगह बन गई है! यह हो ही नहीं सकता कि आप गंदे दीखनेवाले भिखमंगों की मिन्नतों की झड़ियों से बचकर सड़क से शान्तिपूर्वक गुज़र जायें। वे एकदम पीछे पड़ जाते हैं। उनमें से कुछ आप के मार्ग-दर्शक बनने के लिये तैयार हो जायेंगे और दूसरे आप को चुरुट या माल्टा की प्रसिद्ध मिठाई की दूकानों में ले जाने की तत्परता दिखायेंगे।

माल्टा से हम ब्रिंडिसी पहुँचे। वह सिर्फ़ एक अच्छा बन्दरगाह है। वहां आप एक दिन भी मनोरंजन में गुज़ार नहीं सकते। हमें ६ घंटे या इससे भी ज़्यादा का समय था, मगर हम चार घंटों का भी सदुपयोग नहीं कर सके।

ब्रिंडिसी के बाद हम पोर्ट सईद पहुँचे। वहां हमने यूरोप और भूमध्य सागर से अन्तिम बिदाई ली। पोर्ट सईद में देखने लायक़ कुछ नहीं है। हां, अगर आप समाज का तलछट देखना चाहें तो बात दूसरी है। वह धूर्तों और छलियों से भरा हुआ है।[1]

पोर्ट सईद से आगे जहाज़ बहुत धीमे-धीमे चलता है, क्योंकि हम 'एम० डी०' लेसेप्स की बनाई स्वेज़ नहर में प्रविष्ट हो जाते हैं। नहर सतासी मील लम्बी है। जहाज़ को यह फ़ासला तय करने में चौबीस घंटे लगे। हम दोनों ओर ज़मीन के

---

[1] **स्पष्टतः यह संकेत नगरवासियों के एक वर्ग-विशेष की ओर है।**

निकट थे। पानी का पाट इतना सँकरा है कि कुछ जगहों को छोड़कर कहीं भी दो जहाज़ साथ-साथ नहीं चल सकते। रात को दृश्य बड़ा मन-मोहक होता है। सब जहाज़ों को सामने बिजली का प्रकाश रखना पड़ता है। और यह प्रकाश बहुत ज़ोरदार होता है। जब दो जहाज़ एक-दूसरे को पार करते हैं तब दृश्य बड़ा सुहावना होता है। सामने के जहाज़ से आनेवाला बिजली का प्रकाश बिल्कुल चौंधिया देनेवाला होता है।

रास्ते में हमें *गैंजेज़* जहाज़ मिला। हमने उसपर हर्ष-ध्वनि की, जिसका उसके यात्रियों ने हृदय से प्रत्युत्तर दिया। स्वेज़ शहर नहर के दूसरे सिरे पर है। जहाज़ वहां मुश्किल से आध घंटा ठहरता है।

लाल सागर और अदन

अब हम लाल सागर में प्रविष्ट हुए। यह यात्रा तीन दिन की थी, मगर अत्यन्त कष्टदायक थी। गर्मी असह्य थी। जहाज़ के अन्दर रहना तो असम्भव था ही, छत पर भी बेहद गर्मी थी। यहां पहली बार हमने महसूस किया कि हम गर्म आबहवा का सामना करने के लिये भारत जा रहे हैं।

अदन पहुंचने पर हमें हवा के कुछ झकोरे मिले। हम (बम्बई जानेवाले यात्रियों) को यहां जहाज़ बदल कर *आसाम* जहाज़ में बैठना था। यह वैसा ही था जैसा कि लंदन को छोड़ कर किसी दीन-हीन गांव में जाना। *आसाम*

जहाज़ आकार-प्रकार में *ओशियाना* का शायद आधा भी न होगा ।

मुसीबत कभी अकेली नहीं आती

मुसीबतें कभी अकेली नहीं आतीं—*आसाम* में बैठने के बाद समुद्र में तूफ़ान का भी सामना करना पड़ा, क्योंकि मौसम वर्षारम्भ का था। हिन्द महासागर आम तौर पर शान्त रहता है, इसलिये वर्षाकाल में वह क्षुब्ध हो कर सारी कसर निकाल लेता है। हमें बम्बई पहुँचने में समुद्र पर पांच दिन ज़्यादा बिताने पड़े। दूसरी रात को तूफ़ान अपने सच्चे रूप में प्रकट हुआ था। बहुत-से लोग बीमार हो गये थे। अगर कोई छत पर जाने का साहस करता तो उछलता हुआ पानी झपाटा मारता था। कहीं कुछ कड़ाका होता, कहीं कुछ टूट कर गिरता! कोठरी में शान्तिपूर्वक सोया नहीं जा सकता था। दरवाज़ा फट फटाता रहता। सामान नाचने लगता। बिस्तर पर पड़े लोग बेलन जैसे लुढ़कते। कभी कभी लगता कि जहाज़ डूब रहा है। भोजन की मेज़ पर अब कोई आराम नहीं। जहाज़ आजू-बाज़ू लुढ़कता है। उस से कांटे-चम्मच, शोरवे की रक़ाबियां और सिरका, तेल आदि की शीशियों के स्टैंड भी गोद में आ गिरते हैं। तौलिया पीला रँग जाता है। इसी तरह जाने क्या-क्या होता है।

एक सुबह मैंने कारिन्दा (स्ट्यूअर्ड) से पूछा कि क्या इसे ही असल तूफ़ान कहा जाता

है ? उसने जवाब दिया : "जी नहीं, यह तो कुछ भी नहीं है ।" और उसने अपना हाथ डुला कर बताया कि असली तूफ़ान में जहाज़ कैसे लुढ़कता है।

इस तरह उछलते और गिरते हुए हम ५ जुलाई को बम्बई पहुँचे । उस समय बड़े ज़ोरों की वर्षा हो रही थी, इसलिये तटपर जाना कठिन था । फिर भी हम सकुशल तटपर पहुँच गये और हमने *आसाम* से विदा ली ।

हम आशाओं पर ही जीते हैं

ओशियाना और *आसाम* में क्या-ख़ूब मनुष्य-रूपी असबाब भरा था ! कुछ लोग बड़ी-बड़ी आशाएं ले कर आस्ट्रेलिया में धन कमाने के लिये जा रहे थे; कुछ इंग्लैण्ड में अपनी पढ़ाई समाप्त करके सभ्यजनोचित जीविका उपार्जित करने के लिये भारत जा रहे थे । कुछ कर्तव्य की पुकार से आये थे, कुछ स्त्रियां भारत या आस्ट्रेलिया में अपने पतियों से मिलने जा रही थीं और कुछ साहसिक थे, जो अपने घर से निराश हो कर अपने साहस के कार्यों को आगे बढ़ाने के लिये भगवान जाने कहां जा रहे थे !

क्या सब की आशाएँ पूर्ण हुईं ? यह सवाल है । मनुष्य का मन कितना आशालु होता है, और फिर भी कितनी बार वह निराशा का शिकार होता रहता है ! हम आशाओं पर ही तो जीते हैं । (अंग्रेज़ी से)

—*वेजिटेरियन : १६-४-१८६१*